ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क ५७

बाजे पायलियाके घुँघरू

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

कौन कहाँ ?

यह क्या पढ़ रहे हैं आप .

एक बार मैं गांधीजीके निकट बैठा था और बातचीत प्रार्थनापर चल रही थी। वे बोले---प्रार्थनाका एक चमत्कार यह है कि हमारे सामने जब विकट समस्याएँ होती हैं और हमारी शक्तियाँ उन्हें सुलझानेमें अपनेको असमर्थ पाती हैं, हम सरल भावसे प्रार्थना करें, तो परिस्थितियोंमें बिना किसी प्रयत्नके ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि वे समस्याएँ आप ही आप सुलझ जाती हैं।

मैंने नम्रतासे पूछा---बापू, बिना किसी प्रयत्नके इस परिवर्तनका रहस्य क्या है ?

बापूने कहा---यह बात एक और एक दोकी भाषामें नहीं कही जा सकती, पर सत्य है। अपनी भाषामें मैं इसे ईश्वरकी कृपा मानता हूँ, पर मनोवैज्ञानिक रूपमें भी इसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

× × ×

नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण परमहंसके निकट गये, तो नास्तिक थे, पर लौटे, तो आस्तिक होकर।

मैं अनेक बार अशान्तिके क्षणोंमें लहलहाते खेतोंपर गया हूँ और वहाँसे उत्फुल्ल होकर लौटा हूँ।

यह सब क्या है ?

यह सब शुभ संपर्ककी शक्ति है।

अत्यन्त नम्रताके साथ मैं कहना चाहता हूँ कि इन लेखोंमें वही शुभ संपर्क है, जो अशान्तिमें शान्ति, नीरसतामें सरसता और निराशामें आशाके भाव देकर मनको बिना किसी प्रयत्नके यों बदल देता है कि जीवन अपने आप पहलेसे अच्छा और आनन्दपूर्ण हो जाता है।

बाजे पायलियाके घुंघरू

एक ही वात हमे दो आदमी कहते है, पर एककी वातका हमपर कोई असर नही होता और दूसरेकी वातका हमे तुरन्त विश्वास हो जाता है। यह क्यो?

यह इसलिए कि एक कहता है वुद्धिसे और दूसरा हृदयसे। वुद्धि है अविश्वासी, अनिश्चयात्मक और तार्किक, इसलिए वुद्धिकी वात वुद्धिमे नही उतरती, देरमे उतरती है और उतरकर भी यो नही पचती कि रस वनकर जीवनको सौन्दर्य दे, पर हृदय है विश्वासी और सरल, इसलिए हृदयकी वात हृदयमे झट उतर जाती है और यो पच जाती है कि रस वनकर जीवनको सौन्दर्य दे।

इन लेखोमे न वुद्धिके गोरखधन्धे है, न सूखे ज्ञानके अम्वार, सरल हृदयकी जिज्ञासाएँ है, चिन्तन है, अध्ययन है, प्रयत्न है, समाधान है, सफलताएँ है, अनुभव है।

इसीलिए वे पाठकको वहसम निरुत्तर नही करते, मनम शान्त करते है, उसके ज्ञानको झकझोरते नही, जीवनको वदलते है और यह सव भी दण्ड या कडाईसे नही, मिठासमे मित्रकी तरह—सच तो यो कि पता नही चलता और जीवनमे परिवर्तन हो जाता है, वह ऊँचा उठ जाता है, जीवनकी पायलियाके घुँघरू वज उठते है, उसमे सात्त्विक आनन्द भर जाता है।

वस यही ये लेख इस तरहके दूसरे लेखोमे भिन्न है।

इसी शृखलाके कुछ लेख 'जिन्दगी मुसकराई'मे छपे थे और कुछ ये है। इनमे मेरी चौथाई शताव्दीकी जीवन-साधना है और यह मेरा अभिमान नही, सतोष है कि देशकी उठ-उभरती पीढियोको मै यह उपहार दे सका।

विकास, सहारनपुर • कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

यह किसका सिनेमा है ?

[१]

लम्बी बीमारीसे उठकर अपने ही नगरकी नहरपर उस दिन गया, तो लगा जैसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है। चारो ओर अजीब-सा लगता था।

रास्तेमे देखा एक नया सिनेमा-घर बन रहा है। जिस मित्रकी मोटरमे घूमने गया था, उनसे ही पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है भाई ?"

बोले—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

"रण्डीका ?" मुझे हँसी आ गई। मैने कहा—"फिर तुमसे अच्छी तो यह रण्डी ही रही कि कमाईसे इतना बडा सिनेमा बना लिया। तुम्हारी तो दूकान भी अभीतक किरायेकी है।"

वे भी हँस पडे, बात पूरी, पर पूरी होकर भी इसने मेरे मनमे जिज्ञासा-का एक जाल-सा पूर दिया। एक रण्डीने इस नगरमे इतना रुपया कमा लिया कि खा-पीकर वह इतना रुपया जोड सकी कि लाख रुपये लगाकर यह बिल्डिंग बना-खडी की। कुछ न कुछ तो पास भी बचा रक्खा होगा और १॥ लाख जिसके पास है, उसने खाने-पीनेमे भी ३ लाख खर्चे ही होगे, तो एक रण्डीने ५ लाख रुपये कमाये। इन ५ लाखके पीछे कितने उजडे और उदास घरोकी कहानियाँ कसक रही है, इसे कौन जान सकता है ? और यह रण्डी, जो स्वय सबसे बडी कसक-कहानी है इस समाज-व्यवस्थाकी !!

[२]

कुछ दिन बाद मै स्वास्थ्य-सुधारके लिए पहाड चला गया। वही एक दिन एक बैचपर बैठा, मै सामनेका पहाड देख रहा था कि पासकी

बेंचपर एक सज्जन आकर बैठ गये और कोई पुस्तक पढने लगे—एकदम गभीर और डूबे हुए।

तभी उधर आ निकले एक और सज्जन—कोट-बूट-धारी और उन पढन्तू मित्रके पास पहुँचते-न-पहुँचते बोले—"मै तो तुम्हारे कमरेपर गया था। नौकरसे मालूम हुआ कि तुम इधर घूमने गये हो। मैंने सोचा—चलो, उधर ही चलूँ, कही न कही मुलाकात हो ही जायगी ?"

दूर बैठे ही बैठे मैंने महसूस किया कि उन्हे इनका यहाँ आना अच्छा नही लगा। तभी उडती-उखडती-सी आवाजमे वे बोले—"हाँ, मै इधर चला आया था।"

मनमे सोचा—इस 'हाँ' का अर्थ है कि बडी बेवकूफी की, जो नौकरको अपना पता दे आया कि भूतकी तरह आप मेरे पीछे यही आ धमके। मुझे लगा कि ये आनेवाले सज्जन, इनसे कोई ऐसी बात चाहते है, जिन्हे यह पसद नही करते।

बेंचपर बैठते-बैठते उन्होने कहा—"तो फिर क्या सोचा तुमने अपनी पालिसीके बारेमे ? और सोचना क्या है, लो, फार्म भर दो।"

अरे, यह तो बीमा कम्पनीका एजेण्ट है। बीमा-एजेण्ट, अपने समयका ऐसा आदमी जिसे कोई पसद नही करता, पर जो बिना बुलाये भी किसीके घर जानेमे नही झिझकता !

[२]

स्वस्थ होकर पहाडसे लौट आया, तो एक दिन मेरे एक परिचित किसी अपरिचितको साथ लिये आये और बोले—"ये मेरे मित्र है भाई साहब, और आपकी मदद चाहते है।" ये सज्जन होगे कोई ५० वर्षके। चेहरेपर सौम्यता, तो गलेमे मिठास। बोले—"बनता-बनता मेरा सिनेमा रुक गया है। आप जाने, ये परमिट-कन्ट्रोलके दिन है—बिना सिफारिश कोई बात

नही करता, पर बरसात ऊपरसे आ रही है, अब छत न पडी तो सारी लागत पानीमे वह जायगी और हम कहीके न रहेगे। आप टी. आर. ओ से कहकर हमे थोडा-सा लोहा और सीमेण्ट दिला दे, तो हमारा काम वन जाय।"

मैने कोशिश करनेकी बात कही और पूछा—"कौन-सा सिनेमा वना रहे है आप ?"

बोले—"नहरकी सडकपर बना रहा हूँ। वस छत पडी कि तैयार हुआ। तब दिखाऊँगा आपको।"

सुनकर मुझे याद आगई, अपने मित्रकी बात—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

टटोलते-से पूछा—"पर सुना था, वह सिनेमा तो कोई वहन वना रही है ?"

"जी हाँ!" वे खुश होकर बोले—"वो मेरी बीबी है। मै तो एक गरीब आदमी हूँ, पर उनके पास थोडी-सी जमा-पूँजी है। वही उसे बना रही है।"

वे चले गये और मुझे उलझा गये। मै सोचता रहा—मित्र कहते है, यह रण्डीका सिनेमा है, ये हजरत कहते है सिनेमा मेरी बीबी बना रही है!!

मै उठकर सिनेमाकी ओर गया। म्युनिसिपेलिटीका भगी झाडू लगा रहा था, उससे पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है चौधरी साहब ?" बोला—"यह रण्डीका सिनेमा है बावूजी!"

तभी उधरसे निकले म्युनिसिपल बोर्डके एक मेम्वर। मैने कहा—"आपके वार्डमे तो यह वहुत शानदार सिनेमा बन रहा है—आप ही वना रहे है क्या ?"

बोले—"नही जी, यह तो किसी रण्डीने बनाया है। हम क्या बनायेंगे सिनेमा, गुजर ही मुश्किलसे हो रही है।"

मैं लौट आया। अजीब बात है कि भगी और मेम्बर साहब, दोनो कहते है, यह किसी रण्डीका सिनेमा है और वे साहब फर्माते है कि मेरी बीवी यह सिनेमा बना रही है। क्या सारा समाज झूठा है और बस वे ही सच्चे है ?

[४]

तीसरे दिन अपनी दरख्वास्त लिये वे आ पहुँचे। मैं रण्डी और बीबीके झमेलेमे उलझा था—हम बातोमे ढल गये और जो कुछ हाथ आया, यह है—

मा और बेटी। मा ढलती हुई, तो बेटी उभरती हुई, जिसकी उम्र नई, रूप नया, नाम नया, हर बात नई और ये अभी-अभी बापको दफनाकर निमटे एक नौजवान, जिनकी उम्र नई, रूप नया, चाव नये, हर बात नई और बापकी कमाई दौलत पास। वे दोनो वेश्याएँ, यह आजाद रईस। उधर एक महा घाघ, तो दूसरी बछेरी—एकका इशारा, तो दूसरीका उस्तरा और इधर वह अलमस्त छैला, जो पिये गया और दिये गया। बस ५, ७ बरसोमे ही ऐसी हजामत बनी कि पासमे इकन्नी नही, पर दिलमे अरमानोके अभी अम्बार।

इनके लिए वह घडी नजदीक, जब उस्तादजी सारगीके गजसे पीटकर, धकियाते हुए जीनेसे नीचे उतार दे और दरवाजा इतने जोरसे बद करे कि उसके फिर खुलनेकी उम्मीदका तार ही टूट जाये, पर घाघ माके सामने यह सूरजकी तरह साफ कि खूँटा ही बछेरीसे नही, उसकी बछेरी भी खूँटेमे उलझी हुई है।

वेश्या होकर भी वह मा और मा समझदार, जो अपने पेशेके कोढको

पूरी तरह भोग चुकी। उसने दोनोको टिटकारियाँ दी, टकोरा-झकोरा, स्याह-सफेद दिखाया और एक दिन मजबूत गाँठमे स्वय वाँध दिया। मा एक दिन दुनियासे उठ गई और जन्नत पहुँची, तो जिन्दगीके रजिस्टरमे उसने देखा, इस गाँठमे उसके सब गुनाह बँध गये थे!

और ये दोनो? इनके लिए तो अब घर ही स्वर्ग था—इनकी जन्नत आसमानमे नही, धरतीपर, इन्हीके आँगनमे थी।

धन इनके पास तब रहा नही था, कुछ रूपके भी ये लच्छे न थे, फिर इनमे वह क्या था, जो एक चमकती परीको पत्नी बना पाया? प्रश्न उठा, पर प्रश्न ही रहा और वे उठकर चले गये। मै सोचता रहा—एक वेश्याने उस पुरुषको अपने जीवनकी बागडोर पकडा दी, जिसके पास कुछ न रहा था, जो उसके ही द्वारा लुट चुका था, क्या यह दया है? या यह आत्म-समर्पण है, पुरुषके सर्वस्व समर्पणके वदलेमे किया गया, नारीका आत्म-समर्पण?

[५]

सिनेमा बन गया और उसमे तस्वीरे दिखाई जाने लगी। एक दिन परिवार सहित मै भी निमन्त्रित था। समयपर हम पहुँचे, तो वे ही सज्जन हमे खडे मिले। बौक्समे हमे बैठाकर वे चले आये और थोडी देरमे एक स्त्रीके साथ लौटे।

परिचयकी भाषा यह थी—"लीजिए, ये भी आगई आपके साथ सिनेमा देखने—इन्होने ही आपको आज यहाँ तशरीफ लानेकी दावत भिजवाई थी।" वे उन्हे बैठाकर चले गये। मैने समझा उन्हे कोई जरूरी काम होगा, पर वे थोडी देर बाद आये—पत्नीकी गरम चादर साथ थी, हमारे लिए पान। पान हमने खाये। वे बोली—मुझे तो अपने ही हाथका पान अच्छा लगता है। सुनते ही वे फिर चले गये और उनके पानोकी डिबिया उन्हे दे गये।

'इण्टरवैल' परदेपर और वे दरवाजेपर, चायवाला साथ। हमने चाय पी, पान खाये। वे उस गरम चादरको पत्नीके कन्धोपर डाल, फिर चले गये और खेल खत्म हुआ कि वे फिर दरवाजेपर—पान साथ !

चान्दनेमे दोनोको एक साथ गौरसे देखा। नारीमे सरलता भी है, बडप्पन भी। उसकी मुसकानमे आकर्षण है, जो वेधक न होकर मोहक है। बातचीतमे वे खुली है, पर इस खुलेपनमे कही भी हल्कापन नही, शालीनता ही है। मैंने उन्हे बडी बहन कहा, तो पूरे मनसे ही कहा। पुरुषमे सौम्यता है। वे धीमे बोलते है, पर पूरी मिठासके साथ। उनकी हर बातमे एक सयम है।

वे चले गये, मै अपने प्रश्नोका उत्तर पा गया। एक वेश्या उसके पास जो आता है, वही अपनी बात मनवानेके लिए। ठीक है, वह पैसा फेकता ही इसलिए है कि उसकी हर इच्छाको हॉ सुनाई दे। पैसेकी शक्तिके सामने सिर झुकानेकी शिक्षा वेश्याको दी जाती है, वह सिर झुकाती है, पर उसके हृदयकी प्यास उससे पूछती है—"क्या इस ससारमे ऐसा कोई नही, जो मेरी इच्छाके सामने भी सर झुकाये ? अपने सामने मेरी इच्छाको महत्त्व दे ?"

इस पुरुषमे यह गुण है कि अपनेको भूलकर, दूसरेका ध्यान रक्खे और यही वह रसायन है, जिसने वेश्याको पत्नी बना दिया।

[६]

यो मेरे सब प्रश्नोका समाधान हो गया, पर तभी एक नये प्रश्नने मुझे आ घेरा—गिरना आसान है, गिरकर उठना कठिन, यह नारी गिरी, गिरनेकी हदतक गिरी और उठ गई—उठनेके ऊँचे-से-ऊँचे शिखरतक।

एक स्वस्थ दर्शकके मनमे गिरावटके लिए दया और उठावके लिए प्रशसाकी भावना उठनी चाहिए, पर यह क्या बात है कि वेश्याके गृहिणी

बननेपर भी हमारे समाजका एक शिक्षित व्यापारी और अशिक्षित भंगी बरसो बीत जानेपर भी उसके गृहिणीपनको स्वीकार नही करता और वेश्या-पनको भूलता नही; जब कि वेश्यापन पहला और गृहिणीपन बादका है— पहला पाठ कण्ठ और बादका पाठ घूं-घाँ, यह कैसी स्मृति है, हमारे समा-जकी !?

और तभी याद आगये मुझे उस पहाडी बेंचपर बैठे बाते करते वे दोनो परिचित, जिनमे एक बीमा एजेण्ट। बीमा-एजेण्ट, जिसे हमारे देशमें अभी कोई पसद नही करता !

और यही मनमें फूट-पनपा एक नया प्रश्न—भला क्यो ?

बीमा-एजेण्ट हमारा बीमा करता है, तो उसमे हमारा ही लाभ है। हमे बुढापेमे इकट्ठा रुपया मिल जाता है, जो वैसे हम जमा न कर पाते। वह हमे बुढापेकी बेफिक्री देता है और मौत बेवक्त आ निकले, तो बाल-बच्चोको बचाता है। बीमामे हमारा, हमारे परिवारका, हमारे देशका, लाभ ही लाभ है, फिर बीमा करनेवाला हमे क्यो अच्छा नही लगता ?

—क्योकि हमारी आँखे देखती है कि इस बीमामे उसे लाभ है और हमारा दिमाग सोचता है कि वह उस लाभके लिए ही हमारे पास आया है, तो फिर वही वेश्यावाली बात कि उसका गृहिणी बनना हमारे दिल-दिमाग-को नही छू पाता और उसका वेश्या रूप ही हमपर छाया रहता है।

लोक-कथामे कहा गया है कि दयासे द्रवित हो, नारद मुनिने कुबडी बुढियासे कहा—"आ बुढिया, तेरा कूबड अच्छा कर दूं।"

बुढियाने कहा—"बाबा, दयालु हुए हो, तो मेरा कूबड रहने दो, मेरे पडौसियोकी कमरमे कूबड हो जानेका वरदान दो।"

अब बाबा भौंचक ! बोले—"उनकी कमरमे कूबड होनेसे तुझे भला क्या फायदा ? तेरी कमर तो झुकी-की-झुकी ही रही ?"

बुढिया तमककर बोली—"अरे बाबा, मैं भी एक बार देख लूँ कि ये मुझे किस तरह देखते है।"

यही दोष-दर्शनकी वृत्ति सारे समाजपर छाई है कि हमें अपने लाभसे ज्यादा दूसरेकी हानिकी और दूसरेके गुणोकी अपेक्षा उसके दोषोकी ही अधिक चिन्ता है। मक्खी नूरजहाँके सुरभित शरीरमे भी चोटकी चेहट ही तो खोजती है?

एक दूसरी लोक-कथामे कहा है— दयालु हो, कीचडमे पडे शूकरसे नारदने कहा—"चल, तुझे स्वर्ग ले चलूँ।"

शूकरने कहा—"क्या है तुम्हारे स्वर्गमे बाबा?"

"स्वर्गमे? अरे मूर्ख, स्वर्गमे सब कुछ है। खानेको बत्तीस भोग, छत्तीसो व्यजन, देखनेको नृत्य, सुननेको सगीत, सेवाको अप्सराएँ—क्या नही है हमारे स्वर्गमे? चल, उठ।"

शूकर उठा, पर उठते-उठते उसने पूछा—"महाराज, आपके स्वर्गमे कुरडियाँ और कीचडके गड्ढे भी है या नही?"

बाबा हँसे—"अरे भोदू! स्वर्गमे इनका क्या काम?"

अपनी कीचडमे फिरसे लेटते हुए शूकरने कहा—"फिर वहाँ है ही क्या खाक?"

उस दिन एक विद्वान् पधारे। एक ऐसी सस्थाके कार्यकर्ता, जो राष्ट्रका सास्कृतिक केन्द्र कहलाती है। कुछ दिन पहले मैने एक ऐसे व्यक्तिपर जीवन-परिचय लिखा था, जो समयकी बात, एक ऊँचे राज-पदपर भी प्रतिष्ठित हैं। उसकी चर्चा चली, तो बोले—"आपके पत्रोको उनसे कुछ लाभ पहुँचता-होगा!"

क्या मतलब? यही कि बिना मतलब किसीकी तारीफ कोई क्यो करेगा? मतलबसे भी तारीफ की जाती है, यह सच है, पर हमे सब जगह

और सबसे पहले वही क्यो दिखाई दे ? मैंने सोचा—उस शूकर और इस विद्वान्मे क्या अतर है ?

लोक-गाथामे इस क्योका उत्तर है। गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे कहा—"कोई दुर्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कहा कोई दुर्जन मिला ही नही।"

उन्होने दुर्योधनसे कहा—"कोई सज्जन खोज लाओ।" वह सव जगह घूम आया, उसे कोई सज्जन मिला ही नही।

क्या बात हुई यह ? यही बात कि हमे अपना आपा ही सब जगह दिखाई देता है। हममे दोष है, हमे वे सब जगह दिखाई देते है। हम उन्हे ही सब जगह देखते है, इसलिए वे हममे बराबर बढ रहे है। जीवन दोप-गुणोका ताना-बाना है। कौन है जिसमे कमी नही—धोतीके भीतर सब नगे, पर दोष ही दोप दिखाई देना, पहले दोपपर ही दृष्टि जाना, हमारी दृष्टिका भेगापन है।

हम इस दोपसे बचे, दोपोके रहते भी गुणोको परखे, प्यार करे, तो पाये कि स्वय हमारे भी दोष कम हो रहे है—'**यो यच्छ्रद्ध. स एव स.**।' गीता कहती है, जिसकी जिसमे श्रद्धा है, वह वही हो जाता है। हम गुणोको परखे, उनमे श्रद्धा रक्खे, तो स्वय गुणी होते चले।

मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

श्रीमती शान्तिदेवीजी भीतरके कमरेसे बाहर चौकमे आ रही थी कि उनका पैर रास्तेमे रखखी बोतलसे टकरा गया।

बोतल सरसोके तेलकी। तेल बिखर गया, नाखूनमे सख्त चोट लगी। झल्लाकर छेदासे बोली—"अरे, तू जहाँ देखता है, वही चीज़ पटक देता है। यह बोतल रखनेकी जगह है ? गधा कहीका !"

अवसरपारखी छेदाने अपनी बहूजीका पैर मसला, तेल समेटा और गल्ती मानी। हमारी शान्तिदेवीजी है बमभोला शिवशकर; वे हँस पडी और बात आई-गई हुई, पर इसके कोई दस पन्द्रह दिन बाद उसी स्थानपर उसी घटनाने एक नया रूप ले लिया।

छेदा भीतरके कमरेसे बाहर चौकमे आ रहा था कि उसका पैर रास्तेमे रक्खी बोतलसे टकरा गया। पैरमे चोट लगी, तेल बिखर गया, बोतल टूट गई। वह सम्भल ही रहा था कि झल्लाकर शान्तिदेवीजीने कहा—"अरे, आँख फोडकर नही चला जाता तुझसे ?"

छेदा चन्ट-चतुर ! जानता था कि बोतल आज रास्तेमे बहूजीने रक्खी है; इसलिए शोखीसे मुसकराते, कन-अँखियोसे देखकर वह बोला—"बहूजी, मै आँख फोडकर चलूँ या आप रास्तेमे बोतल न रक्खे ?"

समयकी बात; मै दोनो दिन वही था, इसलिए छेदाके प्रश्नमे जो मीठा-पैना व्यग था, उसे मै ले पाया और बहुत जोरसे मेरी हँसी फूट पडी। मैने कहा—"ठीक है, जब छेदा रास्तेमे बोतल रक्खे, तब चीजको गलत रखने-

का सिद्धात माना जाय और जब वही काम खुद बहूजी करे, तो आँख फोडकर चलनेका असूल लागू हो ।"

वात हँसीकी थी, हँसीमे घुल-मिल गई, पर मै देखता हूँ कि हमारे जीवनमे व्यापक रूपसे यह रोग फैला हुआ है कि हम हरेक घटनाको, हरेक प्रश्नको, अपने ही दृष्टिकोणसे देखे। रोग, मैं इसे कुछ मुहावरेके तौरपर नही कह रहा हूँ। यह सचमुच एक नैतिक रोग है, जो मनुष्यको मानसिक रूपसे काना बना देता है। काना, जिसकी एक आँख दुर्भाग्यसे फूट गई !

ओह, क्या बात याद आ गई। मेरे एक मित्र थे श्री ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' । वे एक बार मुझे भी यात्रामे साथ ले गये। जहाँ गये, वहाँ उनके एक यजमान थे। निमन्त्रण पा, हम दोनो उनके घर भोजन करने गये। अजीब बात कि श्रीमतीजीकी दाहिनी आँख बद, तो श्रीमान्‌जीकी बाँई, दोनो काने ! मै सोचता रहा कि दो कमियोका गठबन्धन कर, यह एक पूर्णताकी रचना की गई है या दो पूर्णताएँ रोगके किसी 'को-आपरेटिव' आक्रमणसे दो अपूर्णताओमे बदल गई है ?

भोजन वनता रहा, वाते चलती रहीं । बातो-बातोमे जाने क्या बात हुई कि पति-पत्नीमे बात बढ गई और वे आपसमे भिड गये। लडाई बातो-बातोकी, पर काफी पैनी। पतिको शायद उसके अहकारने अचानक कहा—पत्नीकी यह हिम्मत और हिमाकत कि मेहमानोके सामने तुझसे चोच भिडाये !

वह भभक उठा और तमककर उसने कहा—'बेहया, बके जा रही है; कानी कही की !"

पत्नीने इस भभकको पिया-पचाया और तब अपनी अनदेखती आँखको जरा दबाकर, देखती आँखको कुछ कमान-सी ऊपरको खीचे, ठण्डे सुरमे कहा—"ओहो, हमने कोई दो आँखका भी न देखा !"

बस कुछ न पूछिए कि निशाना कहाँ बैठा। पति महाशय घडो नहा गये और मुझे हँसी रोकना मुश्किल हो गया, तो मैं वहाँसे उठ भागा।

आपको भी सुन-पढकर हँसी आये, तो हँस लीजिए, पर बात तो सोचनेकी यह है कि क्या उन दोनोकी तरह हम सब भी काने नही है और हमारा भी वही हाल नही हैं कि अपनी आँखको भूले दूसरेकी आँखपर निशाना लगाये हुए हैं ?

अच्छा, यह कानापन क्या है। एक पिताके दो बेटे। खेलमे एक बन गया राम, तो दूसरा रावण, बस होने लगी तीरदाजी। तीर मामूली तिलनूके और धनुप बाँसकी खपच्चीका, पर तीर आखिर तीर ! रावणका तीर रामजीकी दाई आँखमे घुस गया और आँख जाती रही—हो गये काने। मतलब यह कि चोटसे या खोटसे, एक आँख बैठ गई और हो गये काने !

यह हुई बाहरी बात, कानेपनकी भीतरी भावना क्या है ? एक लोक-कथा है कि माका काना बेटा हरद्वार गया। लौटा तो माने पूछा—"हरद्वारमे तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे ?" गाँवके भोले बेटेने तबतक कही बाजार देखा नही था। बोला—"मा, हरद्वारका बाजार घूमता है।"

मा हरद्वार हो आई थी। बाजार घूमनेकी बात सुनकर वह घूम गई और चौककर उसने पूछा—"कैसे घूमता है रे, हरद्वारका बाजार ?"

बेटेने नये सिरेसे आश्चर्यमे डूबकर कहा—"मा, मै हरकी पैडी नहाने गया, तो बाजार उधर था और नहाकर लौटा, तो इधर हो गया।" दुख पाकर भी मा हँस पडी और उसने बेटेको छातीसे लगा लिया।

दूसरे शब्दोमे कानेका अर्थ है— एकागी, जो प्रश्नको, सत्यको, इकहरा यानी अधूरा देखता है।

मैं आँख फोडकर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

चलती रेल स्टेशनपर आ ठहरी। भीतर डब्बेमे कुछ मुसाफिर, जिनमे एकका नाम 'क' और डब्बेके बाहर दूसरा मुसाफिर, जिसका नाम 'ख'। ख चटखनी खोल भीतर आना चाहता है, पर क उसे कहता है—"अरे भाई, पीछे तमाम गाडी खाली पडी है, वहाँ क्यो नही चले जाते!"

'क' एक सुन्दर नौजवान है, खासकर उसकी दोनो आँखे, तो बहुत ही सुन्दर है, पर मानसिक रूपसे वह काना है, क्योकि मुसाफिरोकी सुविधाके प्रश्नको वह अधूरे रूपमे ही देखता है, पर क्या हम 'क'की निन्दा करे और 'ख'को अपनी सहानुभूति दे ?

यह हो सकता है, पर अगले ही स्टेशन तक, क्योकि वहाँ 'ख' डब्बेके दरवाजे आ अडता है और ऊपर चढते मुसाफिरोको झकझोरता है—"जब पीछेके डब्बोमे जगह खाली पडी है तो यहाँ क्यो घुसे आ रहे हो?" चढनेवाले नही मानते, तो कहता है—"हमारे देशमे तो भेडिया-धसान है साहब, जहाँ एक घुसेगा, वही सब घुसेगे।" और तब उसकी देशभक्ति उमड आती है—"तभी तो हमारे देशका यह हाल है।"

इसी खने पहले स्टेशनपर 'क'के बारेमे सोचा था—"अरे भाई, डब्बेमे जगह होगी, बैठ जाऊँगा, नही तो खडा रहूँगा। तुम्हारे सिरपर तो मै गिरूँगा नही, फिर तुम्हे मौत क्यो आ रही है!" तो क की तरह ख भी काना ही है।

एक और मित्र है। घरमे एक लडका है, एक लडकी। लडकेका विवाह हुआ तो उन्होने लडकीवालेसे उसी तरह रुपया वसूल किया, जैसे पुलिस-वाले किसी चोरसे चोरीकी जानकारी उगलवाते है। बागमे उन्हे ढाई हजार रुपये मिले, पर उम्मीद थी पाँच हजारकी। वे शान्त रहे, पर दूसरे दिन बेटेने फैल भर दिये कि यह तो वह लडकी ही नही है, जो पहले दिखाई थी, भला मै इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। चार-पाँच घण्टेकी

रस्साकशीके बाद ढाई हजार और मिल गये, तो लडकी रूपमे लक्ष्मी और गुणमे सरस्वती हो गई।

मिले, तो मैंने कहा—"आपने तो कसाईको भी मात कर दिया खून निकालनेमे!"

विना शरमाये और झिझके, वे बोले—"विना दबाये गन्नेसे रस कहाँ निकलता है भाई साहब!"

कोई तीन वर्ष बाद उन्होने अपनी बेटीका व्याह रचाया, तो करमकी बात, उन्हे उन जैसा ही समधी मिल गया। ऐसा चूसा कि सफेद पड गये और यो कसा कि करवट न ले सके। विवाहके बाद एक दिन समाजकी दुर्दशापर आँसू वहाते-से वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ लडकीवालेको तो कोई आदमी ही नही समझता। कम्बख्त मुझे इस तरह देखता था, जैसे मै उसके बापका कर्जदार हूँ।"

जीमे आया कह दूँ—तीन वर्ष पहले तो आपको गन्नेकी उपमा बहुत पसद थी भाई साहब!

वही कानेपनकी बात, बेचारेका वाजार घूम गया—लेनेमे दाये, तो देनेमे बाये!

एक और मित्र है, जब मिलते है, अपने इकलौते बेटेकी शिकायत करते है—"कोई बात सुनता ही नही, सदा अपने मनकी करता है। नाकमे दम है पडितजी! ऐसी औलादसे तो बेऔलादा भला!!"

एक दिन बेटा मिला, तो बोला—"मै तो उनसे परेशान हूँ पडितजी! हमेशा रट लगाये रहते है यह मत करो, वह मत करो। आखिर आप ही वताइए कि मै कोई भेड हूँ कि गडरियेकी तरह वे मुझे, हाँका करे, वरना मै गड्ढेमे गिर पडूँगा।"

कोई नई बात नही, सिवाय इसके कि दोनो काने है—बापको बेटेकी

जवानी नही दीखती, तो बेटा बापकी बुजुर्गी नही देख पाता !

जो हाल बाप-बेटेका है, वही पति-पत्नीका। एक मित्र है। रातमे ११ बजे क्लबसे लौटते हैं, तो पत्नी सोई मिलती है। एक दिन दुःखी होकर बोले—"मैं सुबह ६ बजेसे कोई १४-१५ घटे घरसे बाहर रहकर लौटता हूँ, तो श्रीमतीजी भैस-सी पलगपर सवार मिलती है।"

एक दिन बातो-बातोमे मैंने कहा—"भाभीजी, आपसे भाई साहबको एक शिकायत है !" भरी तो बैठी ही थी, बीचमे ही बात काटकर बरस पडी—"ठीक है आपके भाई साहबको शिकायत है, पर पूरे १८ घटे तेलीके बैलकी तरह काममे जुटी रहनेके बाद, जरा पलगसे कमर लगाती हूँ, तो उनके कलेजेमे मकौडे क्यो दौडते है ?"

वही बात कि दो काने एक गाँठमे बँध गये और पति महाशय पत्नीको और पत्नी महोदया पतिको अपनी अपनी आँखसे घूर रहे है।

अपरिचित मुसाफिर या परिचित मित्र, सगे-सबधी या पति-पत्नी और पिता-पुत्रसे आत्मीय, जब दो भिन्न विचारोके लोग आपसमे बाते करते है और एक-दूसरेसे सहमत नही हो पाते, तो एक-दूसरेको बेईमान मान बैठते है और इस प्रकार सुलझानेवाली बातचीत, उलझानेवाली कड़ुवाहटमे बदल जाती है, पर यदि हम सब दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करे, तो बडे-बडे विवाद यो ही शान्त हो सकते है।

दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो वातावरणको कोमलतासे भर देती है। यह कोमलता समन्वयके लिए जगह बनाती है और इस प्रकार बीचकी दूरी कम होकर एकताका जन्म होता है।

यदि दूरी इतनी अधिक और मौलिक हो कि एकता असभव रहे, तब भी यह दूरी इतनी कम जरूर रह जाती है कि बीचमे एक हल्का मतभेद ही रह जाय और मन-भेदतक बात न बढे !

दूसरेको हमेशा उसकी आँखसे देखिए और सावधान रहिए उस खत-रेसे, जो दूरबीनको उल्टी करके देखनेसे पैदा होता है ! यही यह भी कि सत्य वही और उतना ही नही है कि जो-जितना आप देख पाए। फिर यह भी तो सभव है कि हाथीके स्वरूपका अलग-अलग वर्णन करनेवाले वे दोनो आदमी शत प्रतिशत सच्चे होकर भी बस इसलिए अधूरे हो कि एकने हाथीको देखा था सूण्ड की तरफसे और दूसरेने पैरकी तरफसे !

छोटी कैंचीकी एक ही लपलपीमें !

आज शौचादिसे निवृत्त हो हजामत बनाने बैठा, तो शीशेमे देखा कि माथेके बाल बहुत ऊपरतक उड गये है, पर उडे हुए स्थानमे जो १०-५ बाल बचे है, उन्हीमे एक बाल है सफेद, जो बीचमे तनकर कुछ इस तरह खडा है कि जैसे कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा कर रहा हो। मुझे जाने क्यो, वह भला नही लगा और उसका वहाँ यो उद्धतभावसे खडा रहना असह्य हो उठा।

मैने अपनी छोटी कैंची उठाई और एक ही लपलपीमे उसे बुरक दिया। उसकी जड उखाड देना तो मेरे बसका न था, पर हॉ उस समय उसे मैने अदृश्य अवश्य कर दिया। मैंने गौरसे शीशेमे देखा। अब वहाँ उसका नाम-निशान कुछ भी न था। भीतर एक सुखका स्पर्श-सा हुआ, पर तभी मुझे बहुत जोरसे हँसी आ गई। बात यह हुई कि सुखके उस स्पर्शके साथ ही मेरे मनमे आया कि यह सुख वैसा ही मूर्खतापूर्ण है, जैसा उन अभागे शासकोका होता है, जो दमनसे दबे विद्रोहोको समाप्त मानकर सतुष्ट हुआ करते है। मैने सोचा कि यह धवल केश मेरी ही खोपडीमे छुपा इस समय गर्वसे शायद कह रहा होगा—"अजी, क्या रक्खा है कैंचीमे और क्या धरा है उस्तरेमें, अगले सप्ताह देखिएगा, यही अपना झण्डा फहराता दिखाई दूँगा।"

इस घोषणाके साथ मुझे लगा कि धवल केशकी यह फाइल अब दफ्तर दाखिल हुई, पर तभी वहीसे झाँक पडा एक प्रश्न—क्यो जी, जब सिरपर हजारो बालोका खडा रहना बुरा नही लगता, यही नही, यह भी कि अच्छा लगता है, तो उस बेचारे एक सफेद बालका ही खडा रहना तुम्हे ऐसा क्यो अखरा कि कैंची लेकर दौड पडे।

प्रश्नका तरीका है कि उसका समाधान हो, नही तो वह फॉस-सा

चुभता रहे। प्रश्न भी जीवनकी एक कसौटी है। **'सबसे भले है मूढ़, जिन्हे न व्यापे जगत रति'** यह तुलसीदास कह गये है। मेरी रायमे मूढ वह, जिसके मनमे कोई प्रश्न ही न उठे। जो जीवनको देखता है, जीवनके बीचसे गुजरता है, पर जीवनमे दिलचस्पी नही लेता, जिसके मनमे जीवनके सम्बन्धमे प्रश्न ही नही उठते, वह मूढ ही तो है।

फिर प्रश्नोकी भी श्रेणी है कि किस तरहके प्रश्न मनमे उठते है। रातमे तारोको देखकर कविके मनमें भी प्रश्न उठते है, वैज्ञानिकके मनमे भी और भक्तके मनमे भी, पर तीनोके प्रश्न अलग-अलग है और उनके प्रश्न ही उन तीनोको परखनेकी कसौटियाँ है। साथ ही यह भी कि किसके मनमे किस तरहके प्रश्न उठते है और वह किस तरह उनका समाधान पाता है।

इस सम्बन्धमे मेरा अपना तरीका यह है कि मुझमे स्वय प्रश्न उठते है और मै स्वय अपनेमे ही उनका समाधान खोजता हूँ। कई वार मुझे कई-कई वर्षोंमे अपने प्रश्नका उत्तर मिला है और कई वार तुरत, पर अपनेसे वाहर समाधान पानेकी मुझमे प्यास कभी नही जागी।

बात यह कि मै विद्वान् नही हूँ, जीवन-पथका एक सतर्क यात्री हूँ, इसलिए मेरे प्रश्न तत्त्व-ज्ञानकी, गहरी जिज्ञासाके तो हो ही नहीं सकते। उनका सम्बन्ध जीवनके साधारण उलट-फेरोके साथ ही होता है और तभी यह भी कि उनका उत्तर जीवनकी गतिविधिमे ही मिले।

आजका प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक प्रश्न है कि क्यो जी, जब सिरपर हजारो काले बालोका खडा रहना बुरा नही लगता, यही नही, यह भी कि अच्छा लगता है, तो उस बेचारे एक सफेद बालका ही खड़ा रहना तुम्हे ऐसा क्यो अखरा कि कैंची लेकर पडे ?

प्रश्न फालतू हो, तो उसका टालतू उत्तर है मौन, पर वह फालतू न

होकर सही दिशामे हो, तो उसका समाधान हो, नही तो कहा नही मैंने कि वह फाँस-सा चुभता रहेगा—चुभ ही रहा है।

मैंने समाधानकी दिशामे झाँका ही था कि मुझे याद आ गये मेरे मित्र शर्माजी। हजामत तो वे वनाते है तीन ही मिनटमे, पर मूँछे ठीक करते है पूरे छह मिनटमे। वात यह है कि नाकके ठीक नीचे उनकी घनी काली मूँछोमे कोई १०-१५ सफेद वाल उग आये हैं। वे उन्हे अपनी छोटी-सी कैंचीसे कुतर-मुतर करते रहते है और मुसीवत यह है कि वे यह तो चाहते हैं कि सफेद वाल किसीको दिखाई न दे, पर वे यह भी चाहते है कि किसीको यह भी दिखाई न दे कि उन्हे यहाँसे हटाया गया है। गरज यह कि वे उनका अपने साथ कोई सम्वन्ध होना अपनी हेठी मानते हैं।

फिर वही प्रश्न कि आखिर सफेद वालसे यह चिढ क्यो ? प्रश्न मेरी चेतनामे चक्कर काट रहा है और प्रश्न क्या चक्कर काट रहा है मैं ही चक्कर काट रहा हूँ। चक्करका अर्थ है घूमना। घूमना यानी अव यहाँ, तो तव वहाँ, लो पहुँच गया मैं वासुदेवकी माँके घर। उम्र ४० सालकी है, सव तरहसे सुखी, स्वय सुहागन है, आगे वेटा-वहू है। उस दिन मैं वासुदेवको वुलाने गया, तो देखा कि माँ धूपमे बैठी अपनी वहूसे सफेद वाल चुँटवा रही है। ओह, इसे भी सफेद वालसे चिढ है।

मनमे आया ठीक तो है यह चिढ कि सारे वाल तो काले, वीचमे २-४ सफेद। ठीक ऐसा लगता है कि सफेद कुरतेमे किसीने लाल टुक्की लगा दी हो। सफेद वालके प्रति हमारी यह चिढ हमारे सौन्दर्य-वोधका ही चिह्न है। मनको सतोप हुआ कि मैंने जो अपने चमकते मस्तकसे यह सफेद वाल फुर्तीके साथ कैंचीसे वुरका, तो यह इस वातका एक प्रमाण ही हुआ कि मुझमे सौन्दर्य-वोध है।

आदमी भी कितना चतुर है कि वह औरोको तो घिस्सा-पट्टी देता

ही रहता है, अपनेको भी नही छोडता। मैंने भी यो अपनेको सौन्दर्य-बोधका पण्डित मान लिया, पर यह मानना टिका नही, क्योकि तभी मुझे याद आ गये मेरे मित्र चौधरी साहब! मशहूर आदमी हैं। समाजमे नाम है, अण्टीमे दाम है। उम्र ढल चली है, पर देहमे बल है, चेहरेपर रौनक भी। बाल उनके काले हैं, यही मैं जानता था, पर उस दिन लखनऊ जानेकी बात चली तो बोले—"मेरे लिए खिजावकी एक शीशी लेते आना। अमीनाबादपार्कमे मदिरसे आगे जो बडी-सी दुकान है, उसपर मिलेगी। ये लो पॉच रुपये।"

मैंने पूछा—"क्या कीजिएगा खिजाब मँगाकर?" बोले—"नजलेके मारे सिर सफेद हो गया है।"

सोचना पडा कि सफेद बालसे हमारी चिढ हमारे सौन्दर्य-बोधका चिह्न तो नही है, क्योकि जिनके १०-२० बाल सफेद हैं, वे ही उन्हे नही नोचते, जिनका सारा सिर सफेद है, वे भी उन्हे रँगते हैं।

सफेद बालसे यह चिढ किस सीमातक है, यह मैंने मियाँ नूरूसे समझा। नूरू हमारे ही मुहल्लेमे रहता है, रातमे मडीमे चौकीदारी करता है। उस दिन दोपहरको अपने घरके बाहर बैठा था। मै उधरसे निकला, तो देखा कि उसके सारे सिरपर कोई दवा लगी है और ऊपर पट्टी बँधी हुई है।

देखा तो धक्से रह गया। मनमे आया, रात मडीमे कही चोरोसे मुठभेड हुई है और सिर फूटा है। सहानुभूतिसे पूछा—"क्यो भाई, कहाँ चोट खा गये?"

"चोट!" नूरू मुसकराया—"बाबूजी, यह तो मैंने मेहँदी लगा रक्खी है।"

"सिरमे मेहँदी क्यो?" उत्तरमे उसने बताया कि—"खिजाबकी

हुएको परखो। यौवनकी वृत्तिका स्वरूप है–पिओ, पिओ, पिये जाओ, छको मत। बुढापेकी वृत्तिका स्वरूप है—बहुत पी चुके, अब ठहरो।

यौवन रक्त है, बुढापा ओज है। यौवन समेटना है, बुढापा सहेजना है। यौवन यात्रा है, बुढापा पडाव है।

काला वर्ण है—एकागिताका चिह्न, सफेद वर्ण है–सर्वागीणताका चिह्न, क्योकि काला एक रग है और सफेदमे सब रगोका समन्वय है।

सफेद बाल कहता है कि बुढापा आ गया है, यौवनमे जो कुछ समेटा है, उसे सहेज लो।

समेटमे सामग्रीकी बहुलता है, सहेजमे उसका वर्गीकरण है और यह भी कि जो फालतू है, बोझ है, उसे हम फेक दे।

हमारा मोह यहाँ चौकता है, बिदकता है—नही, अभी नही, अभी तो समेटका, सग्रहका, जो मिले, सो लेनेका ही समय है।

सफेद बालके प्रति हमारे मनमे जो चिढ है, वह इसी मोहकी ध्वनि है और इस ध्वनिकी प्रतिध्वनि है कि हम अभी सघर्ष चाहते है, सुख नही। यौवनमे सघर्ष है, उत्तेजना है, बुढापेमे शान्ति है, सुख है। सघर्षमे जीवनका रस है, सुखमे जीवनका फल है। रस काव्य है, सुख अध्यात्म है।

हम रसमे इतने लीन है कि फलकी ओर नही देख पाते—उस राहीकी तरह, जो चलते-चलते राहकी चीजोको देखनेमे इतना मशगूल है कि मजिलको पार करके भी सोचता है, काश, अभी चला ही चलता।

ओह, इस चलाचलीमे मै कहाँ चला गया—बात तो बस इतनी ही है कि मेरी चमकती चाँद परजो थोडेसे बाल बच गये है, उन्हीमे एक था सफेद, जाने क्यो मुझे वह अच्छा नही लगा और अपनी छोटी कैचीकी एक ही लपलपीमे मैने उसे कुरक दिया।

यह सड़क बोलती है !

नई दिल्लीकी एक सडकका नाम है—पार्लमेंट स्ट्रीट। आल इण्डिया रेडियो इसीपर है और इसके चौराहेपर आते ही सामने दिखाई देता है वह गोल भवन, जिसमे हिन्दुस्तानके भाग्यका फैसला हुआ करता है।

क्या नाम है इस सडकका भी! १५ अगस्तको हिन्दुस्तानमे हरेक चीज बदल गई, यहाँतक कि राष्ट्रीय झण्डा भी चर्खा छोडकर चक्रधारी हो गया, पर यह सडक है कि पडी-पडी आते-जातोसे मसखरियाँ करके कहती है—भाई, मै पहले ही जानती थी कि दुनिया बदलेगी। कहो फिर बदली या नही? ऐसी बदली कि बरसाती बदली भी न बदली होगी, पर मै आनेवाले दौरको पहले ही समझ गई थी और वाह क्या नाम रखा था मैने भी अपना—पार्लमेंट स्ट्रीट। रास्ता बताती थी असेम्बली-भवनका और थी पार्लमेंट स्ट्रीट। कहाँ बेकार, बेअसर बहस करनेवाली असेम्बली और कहाँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पार्लमेंट, मुझे मालूम थी १५ अगस्तकी बात!

सच मुझे मालूम थी, बिलकुल उसी तरह, जिस तरह ज्योतिषियोको चाँद-सूर्यके ग्रहणकी बात। न अन्दाज, न अटकल, न गालिबन, न यथा-सभव, पचागमे साफ छपा रहता है और छपा क्या रहता है कोई यो ही, उसकी तस्वीरतक बनी रहती है कि कितना ग्रहण लगेगा। अजी, मिनट तो बहुत बडी बात है, पलोकी गिनती लिखी रहती है। फिर दुनिया कोई मेरी मौसीका घर तो नही कि चाहे जहाँसे देख लो, वैसा ही दीखे—यह दुनिया है जनाब, विश्व- ब्रह्माण्ड। पचागमे साफ लिखा रहता है कि गहण हिन्दुस्तानमे इतना दीखेगा, अफ्रीकामे इतना, अमरीकामे इतना और फ्रासमे दीखेगा ही नही।

"तो क्यो जी, ये ज्योतिषी लोग ग्रहणको ही पहलेसे जान लेते है या आदमीकी किस्मतको भी ?"

वाह, क्या सवाल पूछा है आपने भी ! किस्मत ही नही, ये लोग किस्मतके पन्नोका एक-एक अक्षर ऐसा पढ लेते है, जैसे चवन्नी-दर्शक सिनेमाके गानोकी किताब !

कुछ लोग बौक्सोमे बैठकर सिनेमा देखते है, कुछ फर्स्ट क्लासमे। सफेदपोश गरीब आदमी भी अपने बच्चोका दूध बद करके १० आनेका टिकट खरीदते है। कुछ लोग और भी उस्ताद है। टिकट तो लेते है, १० आनेका, पर मैनेजर साहबसे दोस्ती गाँठकर उसे सेकेण्ड क्लास बनवा लेते है, पर ये सब बेचारे यो ही पैसे खोते है सिनेमामे जाकर। पुराने लोग कहते है पैसा हाथका मैल है, पर आँखोकी रोशनी तो हाथका मैल नही, उसे भी खोते है ये लोग। बौक्सोमे तो जाने क्या क्या होता है, पर फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासमे भी लोग घास खोदते है,जी हाँ, घास खोदते है, यानी समयकी जड काटते है।

जड काटनेका मतलब आपने खूब पूछा—समय कोई पेड थोडे ही है कि उसकी जडपर कोई कुल्हाडी मारे ! समयकी जड काटनेका मतलब है, समय बर्बाद करना। वही करते है ये लोग। ऐसे गुमसुम बैठे रहते है, जैसे इनके मुँहमे हापू निकल आया हो। कुछ लोग बात भी करते है, तो बेकार की। एक साहब है, अपनी टार्च जला-जलाकर कुछ नोट-बुकमे लिखते रहते है। बेचारे सपादक होगे किसी पत्रके। तभी तो अधेरेमे पटबीजने बन रहे है। घर जाकर आलोचना करेगे फिल्मकी। अरे साहब, फिल्म है तफरीह—मनोरजन। दिनभर दफ्तरमे घिसे, शामको घरके धन्धोमे पिसे, रातको ये दो घण्टे मिले, हँसिए, उछलिए, फुदकिए, चहकिए !

असलमे सिनेमा देखना सीखिए पाँच आनेवालोसे। ऐसे लीन रहते

है फिल्ममे कि क्या कहने। किसीकी शादी पर्देपर हुई, तो ऐसे खुश है कि बस जैसे वे ही दूल्हे बन रहे हो। किसी प्रेमिकाने अपने प्रेमीको आधी रात बागमे बुलाया, तो जैसे उन्हीको निमन्त्रण मिला है। हर मौकेपर फिट रिमार्क और चुस्त चोचलेबाजी। क्या खाक बीडी पीकर आलोचना लिखेगे बेचारे सपादकजी; हुँ! एक दिन इस दर्जेकी आलोचनाको शार्टहैण्डसे लिख ले, तो सपादकजी धन्य हो जायँ! ये लोग थके हुए आते है और ताजे होकर लौटते है, जब कि गद्दोपर बैठनेवाले सिनेमा हालके बरामदेमे अगडाइयाँ लेकर अपनी मोटरो या तागोकी सीटोपर आ गिरते है। सच यह है भाई साहब, जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है।

यह दुनिया भी चोचोका मुरब्बा है। चोचोका मुरब्बा? हाँ जी, एकदम चोचोका मुरब्बा। जो लोग दिनभर गद्दियोपर बैठे रहे, बद हाजमा जिनका ऐसा साथी कि मरियम सो मरियम पै टरियम नही, सिनेमामे बैठे-बैठे भी जिनकी पिण्डलियाँ फूल जाती है, वे मोटरोमे क्यो बैठते है? रातका सुहावना समय और परिवारका साथ, टहलते-टहलते घर आये, तो क्या कहने! और जो कही चाँदनी रात हो, तो वाह, वाह! चाँदनी रात क्या है, धरतीका स्वर्ग है।

सुना है अमेरिकामे एक करोडपतिका लडका ३-४ सालकी उम्रमे अन्धा हो गया। यह तबकी बात है, जब वहाँ आँखोका आपरेशन नही होता था। ३६-३७ वर्ष वह अन्धा ही रहा, अन्धापन प्रकृतिका कितना बडा दण्ड है! पिछली लडाईमे जो नये-नये आविष्कार हुए, उनमे कई औषधियाँ भी थी और कई नये आपरेशन भी! उस लडकेकी किस्मत जागी और वह ठीक हो गया। लडका क्या अब तो वह ४० सालका अधेड था। ओह, उसकी खुशी! बादलको देखकर मोर भी क्या नाचा होगा, जो वह नाचा। सारी दुनिया उसे अजीब लगी। हर चीजको वह एक खास

कौतुकसे देखता, घटो देखता, बार-बार देखता, देखता ही रहता। उसे आश्चर्य होता कि इस इतनी सुन्दर दुनियाको देखे बिना ये अन्धे कैसे जीवित रहते है ?

एक दिन अचानक उसके मनमे आया कि वह सारे ससारके सुन्दर स्थानोकी सैर करे । रुपया पास था, काम-धन्धेकी चिन्ता न थी, बस निकल पडा दुनियाकी सैरको! यह देख, वह देख। घूमता-घामता वह हमारे देशमे भी आया। अमेरिकामे पहुँचकर जब पत्रकारोने उससे पूछा, तो उसने कहा—दुनियाकी सबसे सुन्दर चीज़ हिन्दुस्तानमे पूनोकी चाँदनी रात है। उस दिन ऐसा मालूम होता है कि लोहेकी काली रात अचानक चाँदीकी हो गई है।

वाह, क्या कवियो-जैसी बात कही है उस धनी अमेरिकनने। मेरी भी यही राय है कि चाँदनी रात धरतीका स्वर्ग है, पर भाई साहब, हमारे देशमे कुछ लोग है, जो चाँदीके तगार घोलनेमे परेशान है और कुछ आसमानके स्वर्गका पासपोर्ट बनवानेमे। यह अपने सामने फैली चाँदी और अपनी मुट्ठीका स्वर्ग उन्हे दिखाई ही नही देता!

आदमीके दिमागमे यह क्या खुराफात भरी है कि वह काचनको छोडकर काँचकी ओर लपकता है। एक स्वामीजी एक दिन अपने किसी चेलेको एक कहानी सुनाते जा रहे थे कि एक गरीब आदमीने किसी साधु महात्माकी बडी सेवा की। महात्माजी प्रसन्न हो गये और बोले—लो, यह पारस पथरी तुम्हे दिये जा रहा हूँ, परसो आकर ले लूँगा। तबतक जितना सोना तुम चाहो बना लो। परसो जब मै आऊँगा तो ठहरूँगा नही। फौरन पारस पथरी लेकर चला जाऊँगा। गरीब आदमी बडा खुश हुआ, पर उसने सोचा कि अब तो मेरा भाग्य बदल ही गया, अब क्या। आज तो इस खुशीमे मै खूब सोऊँगा और कल लोहा खरीदकर उसका सोना बनाऊँगा। वह उस

दिन खूब सोया। दूसरे दिन सुबह उठा और लोहा खरीदने चला, पर रास्तेमे एक मदारीका खेल हो रहा था, वह उसे देखनेमे लग गया और दोपहरी चढ आई। रईसी बेचारेके दिमागमे आ ही गई थी। सोचा-चलो, अब खाना खाकर सोएँगे। शामको लोहा खरीदेगे। खरीदा और पारस पथरी फेरी; काम ही कितना है। शामको लोहा खरीदने गये, तो भाव न बना। उनका कहना था कि जब हम ५०-१०० मन इकट्ठा खरीद रहे है, तो दुकानदारको हमारा लोहा हमारे घर पहुँचा देना चाहिए, पर दुकानदार इसपर तैयार न हुआ। ग्राहकके दिमागमे नई रईसीके सुपनोकी गरमी, वह भी न झुका और चला गया। उसने सोचा—महात्माजी कल सुबह थोडे ही आ जाएँगे ? मै जल्दी उठकर दूसरी दुकानसे लोहा खरीद लूँगा, पर दूसरे दिन वह सो ही रहा था कि महात्माजी आ पहुँचे। वह बहुत रोया, घिघियाया, पर वे न माने। इसके लिए भी तैयार न हुए कि वह गरीब अपने किवाडोकी कुण्डी-साँकल हीका सोना बनाले। महात्माजी अपनी पारस-पथरी लेकर चलते बने। बेचारा सिर पीटता रह गया, पर यह कसूर किसका था ?

दुनियामे बहुत ही कम लोग है, जो नफे-नुकसानको ठीक-ठीक समझते है। यह बेवकूफ भी मजदूरीके कुछ रुपये बचानेकी चिन्तामे, लाखोका नुकसान कर बैठा। कभी-कभी तो नफे-नुकसानका सवाल इतना सूक्ष्म हो उठता है कि उसे समझना ही मुश्किल हो जाता है। बडे-बडे पडित खो जाते है कि नफा क्या है, नुकसान क्या है ?

एक दिन किसी बडे घरका खानसामा—दो साइकिले एक साथ लिये जा रहा था। अब सूरत यह थी कि वह जमीनपर पैदल और एक साइ-किल उसके बायें हाथ और एक दाये हाथ। दोनोको लिये वह जा रहा पैदल। अब देखनेमे उसके पास दो सवारियाँ, पर असलमे वह खुद एक सवारी बना

हुआ। यानी साइकिलोपर वह नही, साइकिले उसपर सवार। जिनके पास एक साइकिल वे हवासे बाते करते हुए निकले जा रहे है, पर जिसके पास दो सवारियाँ, वह घिसट रहा है जमीनपर। हाँ जी, यह घिसटना ही है कि साइकिलोपर हाथ रक्खे चले जा रहे है, जैसे यह भी कोई नृत्यकी मुद्रा हो या डान्सका पोज ! अब अगर यह खानसामा एक साइकिल किसीको दे दे, तो क्या हो ? पहली बात तो यह कि यह सवारीसे सवार हो जाये और दूसरी यह कि इसे एक और आदमी भी अपनी बगलमे हवासे बाते करता नजर आये। हमेशाके लिए जो एक आदमी सुख-दुखका साथी बन जाये, वह नफेमे, पर नही यह जमीनपर ही रेगेगा और किसीको देगा नही अपनी एक साइकिल !

और फिर इस बेचारे खानसामाकी क्या शिकायत ! यह तो किसी दूसरेकी साइकिले लिये जा रहा है। यह एक किसीको दे दे, तो इसकी वह चाँदमारी हो कि तबियत हरी हो जाए ! हमारा तो सारा समाज ही इस विषमताका शिकार है। हमारे विद्वानोने अर्थशास्त्रके नामपर समाजमे कही टीबे खडे कर दिये है और कही गड्ढे खोद दिये है। नफा-नुकसान भी यह एक अजीब पहेली है !

और क्यो जी, पहेली क्या नही है ? सारा जीवन पहेली ही पहेली है। प्राचीन भारतके किसी धर्म-जिज्ञासुने परेशान होकर कहा था—'**श्रुतयो विभिन्ना. स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वच. प्रमाणम् !**' वेद अलग है, स्मृतियाँ अलग है, अरे भाई, कोई भी ऐसा मुनि नही, जिसकी बात हरेकके लिए प्रमाण हो और फिर खैर, यह तो धर्मकी बात हुई—**धर्मस्य त्वरिता गति**— धर्मकी गति सूक्ष्म है, उसे भाँपना आसान नही, पर यहाँ तो हरेक आदमीकी अपनी ही राय है।

मेरे पडौसमे स्टेशनसे सिविल लाइनको जो सडक गई है, उसपर कुछ

लम्बे-लम्बे पहाडी पेड खडे हैं। उनमेंसे एकपर उस दिन एक चील बैठी थी। उधरसे दो ऐंग्लो इडियन लडके आये और उन्होने अपनी छोटी बन्दूकसे उस चीलपर वार किया। निशाना ठीक बैठा, छर्रा कलेजेको बीध गया। चील टूटे आम-सी नीचे आ गिरी। बारूदकी आगसे वह भुनी जा रही थी। उन लडकोने उसे देखा और चल दिये। उनसे किसीने कहा—अरे, इसे मारा है, तो उठा ले जाओ !

लडके बोले—"हम इसे क्या करेगे ?" पूछा गया कि तब तुमने इसे मारा ही क्यो ? लडके मुसकराये—"वाह, हम तो निशाना सीख रहे हैं !" तभी उधरसे दो और लडके आये। एकने दूसरेसे कहा—आ भाई इसे हलाल करे। वे दोनो उसके पास जा बैठे। चाकू निकालकर उन्होने कुछ मत्र-सा पढा और उसके गलेमे वह उतार दिया। चील हमेशाके लिए सो गई। लडकोने अपना चाकू घासमे साफ किया और चलने लगे। किसीने उनसे कहा—"अरे भाई, तुमने मारा है, तो ले जाओ इसे !"

लडके बोले—"हम इसे क्या करेगे ले जाकर ?"

"खा-पका लेना और क्या करोगे ?"

"जी नही, चीलका गोश्त खानेके लायक नही होता !"

"फिर तुमने इसे मारा ही क्यो ?"

"अजी, हम तो हलाल करना सीख रहे थे !"

अब बताइए, एककी रायमे चील निशाना सीखनेका सिर्फ काला सितारा है, तो दूसरेकी रायमे हलाल सीखनेकी कुन्जी ही ! है न हरेककी अपनी राय ? यह अपनी रायका मसला इतनी बडी पहेली है कि सुलझाये नही सुलझती। इस दुनियामे लाखो आदमियोका यही पेशा है कि वे यह बतायें कि इस मामलेपर अमुक महापुरुषकी क्या राय थी ? इससे भी मजेदार यह कि यदि इस मसलेपर महापुरुषने कभी कोई राय नही दी, तो यदि

वे राय देते, तो क्या देते ? समाजमे इन्हे धर्मगुरु कहा जाता है, इनका मान किया जाता है। अच्छा छोडिए धर्मगुरुओकी बात; इन वकीलोको देखिए। दोनों तरफके दो वकील, पर कानून एक। दोनो अपना-अपना अर्थ बताते है। अब जिसका भी अदालत मान ले—यानी कानून न हुआ, लाटरी हुई कि जिसकी खुल गई, खुल गई !

ओह, मै भी इधर-उधरकी बातोमे ऐसी उलझी कि अपनी बात ही भूल गई। मै कह रही थी कि मेरा नाम पार्लमेंट स्ट्रीट है और भविष्यका रूप मै पहलेसे ही जानती थी। बात यह है कि जब सिरपर आ पडे, तब तो सभी समझ लेते है, पर खूबी तो उसकी है, जो दूरसे ताड ले। मै यह न ताड पाती, तो आज मेरा भी तख्ता उलटा जाता। मेरा यह पाठ ससार पढ ले, तो ९५ फीसदी दुख छू-मन्तर हो जायँ। मै आज भी लोगोकी बाते सुनती रहती हूँ। ससार बदल रहा है, पर सामाजिक और धार्मिक सस्कारोके सबधमे लोग अपने विश्वासोको नही बदलना चाहते। अब कोई पूछे इनसे कि २० वीमे १६ वी सदी कैसे टिक सकती है ? बदलेगे बेचारे, रो-झीककर, पर बात उनकी है, जो भविष्यको वर्तमानमे देख ले और तैयार हो जाएँ उसके लिए।

मेरी तो यही बात है, जिसे मै अपने देशके हरेक आदमीसे कहना चाहती हूँ और इसीलिए मै हर आते-जातेसे बोलती रहती हूँ।

धूप-बत्ती; बुझी, जली !

अपनी कोठरीमे आते ही देखा कि कल सुबह जो धूप-बत्ती जलाई थी, वह पूरी तरह जली नही थी, कुछ जलकर बुझ गई थी और अब भी ज्यो की त्यो खडी है। मुझे वह सिर-जली ऐसी लगी कि जैसे कोई मनुष्य हो, थोडे बहुत ज्ञानसे जिसका बौद्धिक जागरण तो हो गया हो, पर मानसिक विकास न हुआ हो और वह उस बौद्धिक जागरणको अपना सपूर्ण विकास मानकर अहकारमे उफना फिरता हो।

हाय रे विचारे ज्ञान-दग्ध—ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नर न रञ्जयति ।

मेरा मन दयासे भर गया और मैंने उस धूप-बत्तीको विना उठाये ही फिरसे जलानेका निश्चय कर लिया। झट मैंने दियासलाई जलाई और उसे धूप-बत्तीके सिरसे लगाया। दियासलाई जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने दियासलाईकी दूसरी सीक जलाई और उसे उसके दाहिनी ओर लगाया, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने तीसरी दियासलाई जलाई और उसे उसके बाई ओर लगाया, पर वह भी जलकर बुझ गई।

धूप-बत्ती अब भी विना जली—पहले जैसी ही सिर-जली खडी थी और मेरे लिए अब कोई मार्ग न था कि उसे खडी रहते जला दूँ। मैंने उसे उसके स्थानसे उखाड लिया और उसे झुकाकर चौथी दियासलाई जलाई। अरे साहब, वह दियासलाईसे छूते ही जल उठी। दियासलाईमे अब भी इतना दम था कि तैयार हो, तो वह ४-५ धूप-बत्तियाँ और जला दे!

जलती धूप-बत्तीने अपनी सुगन्धसे कोठरीको भर दिया। यह काम समाप्त हुआ तो बुद्धिने अपनी कलाबाजी दिखाई—तीन दियासलाइयाँ

पूरी जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली और एक दियासलाईके स्पर्श मात्रसे ही वह भभक उठी, यह क्या बात है?

मनने कहा— कोई बात तो है यह, पर प्रश्न तो यह है कि क्या बात है वह?

अब ऊहापोह की बारी है, तर्क-वितर्ककी बारी है, चिन्तन की बारी है।

जबतक तीन दियासलाइयाँ जलकर बुझी, धूपबत्ती खडी थी और जब वह चौथीको छूते ही जल उठी, तो झुकी हुई थी।

लगता है—इस अनुभवमे मेरे प्रश्नका उत्तर आ गया है, पर वह इतना सकेतात्मक है, कि कहूँ—समा गया है। समायेको जानना आवश्यक है, तो सोच रहा हूँ कि धूप-बत्ती खडी हो या तिरछी, उसमे जलनेकी शक्ति बराबर ही है, पर खडी हुई धूप-बत्ती दियासलाईकी ज्वालाको ग्रहण करनेमे असमर्थ रहती है और तिरछी धूप-बत्ती उसे सुगमतासे ग्रहण कर लेती है, क्योकि झुकी हुई धूपबत्तीको दियासलाई अपनी लौके पूरे घेरेमे ले पाती है और सीधी खडीको नही।

बात हाथ आ गई, पर बात अपनेमे इकली-इकहरी बात ही तो नही है——उसमे बात-बातमे बात भी तो है-'**ज्यो केलेके पातमें पात-पातमें पात**।'

तो यह निकली आ रही है बातमेसे बात कि किसीसे कुछ लेना हो, तो झुकना आवश्यक है। झुकना, क्या शरीरका? नही जी, यो झुककर, दण्डवत् लेटकर ही तो फौजके सिपाही गोलियाँ दागते है, तो झुकना देहका नही, भावका। साफ-साफ यो कि पानेके लिए नम्र होना आवश्यक है। लोकोक्ति है—बेटा बनकर सबने खाया, बाप बनकर किसीने नही। यह बेटा बनना नम्रता ही तो है?

याद आ रहा है सस्कृतका एक श्लोक, जिसमे सुखकी कुजी बताई गई

है—**विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् । 'पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ।** भाव यह है कि विद्यासे मनुष्यमे विनय आती है, विनयसे पात्रता—पानेकी योग्यता—और वह पात्रतासे पाता है धन, धनसे करता है धर्म, तब सुख ही सुख। तो पात्रताका मूल है विनय, नम्रता—झुकना।

क्यो भला ? नम्रतासे दाताके मनमे प्रवेश पाना सुगम है, सहज है। इससे दाताके मनमे देनेकी वृत्ति खिलती है, वह देनेमे सुख पाता है और अविनयसे वह वृत्ति सकुचित होती है, वह देनेमे भार मानता है।

हमारे लोक-जीवनमे इसका एक मर्मस्पर्शी सस्मरण सुरक्षित है—'कानी भाभी, पानी पिला। हॉ, इन बोलो दूधके कटोरे !'

भाभीकी एक ऑख शीतलामे मारी गई और अब वह कानी है। उसका देवर—भाभीके लिए जिससे प्यारा कोई रिश्ता नही—उससे पानी चाहता है। लोककी ही अभिव्यक्ति है—पानीसे भी पतला क्या ? देवर-को ही क्या, पानी तो किसीको भी पिलाया जा सकता है, उसके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नही।

ठीक है, पानी पानेके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नही, पर अपात्रता न हो, यह तो आवश्यक है और 'कानी' विशेषणने—देवरकी अविनयी वृत्तिने—उसकी अपात्रता सिद्ध कर दी है।

भारतीय सस्कार है कि जो अपात्रको दे—अपात्रेभ्यश्च दीयते—वह पतित, तो देवरको भाभीका चुभता उत्तर है—'हॉ, इन बोलो दूधके कटोरे !' अरे देवर जी, तुम्हारे बोल तो इतने मीठे है कि मै तुम्हे पानी नही, दूध पिलाऊँगी, मुँह धोये रहो !!'

हमारे लोक-जीवनमे विनयका भी एक सस्मरण सुरक्षित है—'रानी भाभी, पानी पिला, पानी देवरके कुत्तोको !'

प्यासा देवर भाभीसे कहता है— मेरी रानी भाभी, दो घूंट पानी पिलादो। रानीके विशेपणमे जो नम्रता है, अपनी अपेक्षा दूसरेको महत्त्व देनेकी जो वृत्ति है, उसने भाभीका मन पुलकित कर दिया और उसकी उदारताको, ममताको जगा दिया है।

वह कहती है—अरे देवर जी, पानीका क्या पिलाना, पानी तो मै लाडले देवरके कुत्तोके लिए भी स्वय कुएँसे भर-खीच लाऊँ, देवर जी, तुम तो कुछ और पिओ—दूध, लस्सी, शिकजवी, शर्वत !

माँगा था पानी, मिला चुभता ताना और माँगा था पानी, पर मिल रहा है दूध-शर्बत। झुकने और अकडनेका यह चमत्कार है।

ओह, याद आगये मेरे बुजुर्ग दोस्त कुन्दनलाल। मेरी ही जन्मभूमिमे सुनारका काम करते थे। बडे ही दिलचस्प आदमी थे। जव हम उनकी दुकानपर पहुँचते, वे सोने-चाँदीका कोई जेवर बनाते होते और हम कहते—'कहिए, क्या बना रहे है भाई साहव ?'

वे अपना हथौडा रोक देते और राजा टोडरमलके समयका अपना चश्मा नाकसे माथेपर रखते हुए कहते—"अजीव सवाल है कि आज मे क्या बना रहा हूँ ? अरे भाई, किसीकी बनती है नथ, किसीकी अगूठी, किसी-का हार और किसीका कगन, पर अपनी तो मै दाल-रोटी ही बनाता हूँ, क्या आज, क्या कल और क्या परसो।" और तब ऐसी मीठी हँसी हँसते कि उस बुढापेमे भी उनका खुबानी चेहरा कन्धारी अनार हो जाता !

अपनी ठुक-ठुकके वीच उन्होने उर्दूमे कुछ कविताएँ भी लिखी थी। एक शेर याद आ रहा है, पर याद धोखा दे गई, शेर कहाँ, शेरका भाव ही वस कि सुराही वहुत कीमती है, उसमे शराब भी वहुत कीमती है और वह साकीके बहुत कीमती हाथोमे भी है—है बेशक, पर महत्त्व तो उस मामूली

प्यालेका है, जो उस सुराहीको सिर झुकाकर शराब देनेके लिए विवश कर देता है।

वही बात कि देनेसे बढकर लेनेवालेकी पात्रता है। लो, स्मृतिके आसनपर आ बैठे है पूज्य मदनमोहन जी मालवीय, जिनपर सदा धन बरसा। उस बार काशी-विश्वविद्यालयमे उनके दर्शन करने गया, तो बातो-बातोमे उन्होने कहा था—"देशके हर द्वारपर एक दाता खडा है अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोकी है, जिनमे वह अपनी भेट दे सके !"

मेरे उठते-उठते, आग्रहसे कहा था उन्होने—"भूलना मत इसे।"

और बम्बई मेलके उस थर्डक्लास कम्पार्टमेण्टमे उस दिन पूज्य मालवीयजीके सदेशका परीक्षण कितना सफल रहा था ?

मेलका हर डब्बा करीब-करीब 'एयरटाइट' था, बस खाली था एक डब्बा, पर इसमे चढना शेरकी दाढसे गोश्त निकालना था। स्टेशनके आते ही उसकी बन्द खिडकीसे एक रौबीले पेशावरी पठानका चेहरा बाहर निकल आया। खिडकीके बाहर हम सात मुसाफिर थे। खान और फौजी उस युगके शेर-साँप थे, उन्हे लाघना कठिन क्या, असभव ही था।

खानने मुसाफिरोको देखा और पूरे रौबसे कहा—"खिड़की नही खुलेगा।"

हम सबने समझ लिया कि ठीक ही है यह कि खिडकी नही खुलेगा, तो हम सात मुसाफिरोमेसे पॉच तो उसी क्षण दूसरे डब्बेकी ओर भाग निकले। छठेने सामनेसे आते चैकरसे शिकायत की—"जनाब, ये हज़रत पूरा डब्बा घेरे बैठे है और हमे चढने नही देते।"

चैकर महोदयने अपने नये यूनीफार्मके रौबमे ज़रा डाटके स्वरमे खानसे कहा—"आप दूसरे मुसाफिरोको चढनेसे नही रोक सकते; खोलिए खिडकी।"

खानने सचमुच खिडकी खोल दी और चैकरकी ओर मुसकराते हुए कहा—"ओ शाला, तुम बैठाएगा इशको ? बैठाओ। जब गाडी चलेगा और हम इस शालाको बाहर फेंकेगा, तो तुम शाला झण्डी हिलाना।"

चैकर तो खिसका ही, वे मुसाफिर महाशय भी नौ-दो-ग्यारह हुए। खानने उन्हे आवाज देकर कहा—"ओ शाला, कहाँ जाता है ? आवो ईढर, हम पूरी शीट देगा।" निमत्रण काफी उदार था, पर उसे स्वीकार करनेकी शक्ति उन महाशयमे न थी। वे चले, तो चले ही गये। खानने अपनी खिडकी धम-से बन्द करली।

मै अब भी अपनी जगह खडा था—अपनी अटैची हाथमे लटकाये। खानने मुझे देखा, मैने खानको। उसने क्या सोचा, मै नही जानता, पर मैने सोचा—'मालवीय जी महाराजका वचन है कि हर द्वारपर एक दाता खडा है, तो क्या यह खान भी दाता है ?'

तभी खानने मुझसे कहा—"तुम नही गया ?"

मैने सक्षेपमे कहा—"नही खान साहब !"

"क्यो, गाडी मे नही चडेगा ?"

"चढूँगा, अगर आप प्यारसे चढाएँगे।"

"क्यो ? दूसरे डब्बेमे नही चडेगा ?"

"खान साहब, आप एक बहादुर पठान है और बहादुर आदमीका दिल बहुत बडा होता है। उसमे ही जगह न मिले, तो फिर कहाँ जगह मिलेगी ?"

"तुम डरता नही—हम तुम्हे नीचे फेक देगा ?"

"नही खान साहब, बहादुर आदमीके पजे सख्त होते है, दिल मुलायम होता है। आप मुझे नीचे नही फेक सकते।"

खानने कुछ सोचा कि तभी गार्डकी सीटी बजी और हरी झण्डी हिली।

खानने खिडकी खोली और मुझे बुलाया। मै झपटकर खिडकीपर पहुँचा कि खानने सहारा देकर मुझे भीतर ले लिया।

१८ आदमियोंके बैठने लायक उस छोटे-से डब्बेमे खान था, उसकी खबसूरत बीवी थी और दो बच्चे थे। सबके बिस्तर बिछे थे; जैसे वे पलगपर ही हो। मैने खानकी बीवीको सलाम किया और खानको धन्य-वाद दे, दूसरी तरफ बैठ गया। कुछ देर बाद धीरे-से खान मेरे पास आया और उसने मुझे दो बहुत बढिया सेब दिये। खाकर मजा आ गया और मैने सोचा—"मालवीय जी महाराजका वचन सत्य है कि देशके हर द्वारपर एक दाता खडा है, अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोकी है, जिनमें वह अपनी भेट दे सके।"

सचमुच यह खान, जिसे हम सात मुसाफिरोने यमदूत या जीता भूत समझा था, एक दाता ही तो था और उसकी प्यार भरी भेट मेरे हाथोमे थी, पर मेरी सनक देखिए कि मै अब अपने दाताकी कसकर परीक्षा लेने पर तुल गया था।

दूसरे स्टेशनपर गाडी आकर रुकी, तो समयकी बात स्टेशन मेरी तरफ था। खानकी तरह मै खिड़कीसे बाहर झुक गया। तीन मुसाफिर थे—दो जवान एक बूढा। बिना खानकी तरफ देखे, जोरसे मैने कहा—'बूढे बाबा, यह खान साहबका डब्बा है। उन्होने मुझे मेहरबानी करके बैठनेकी जगह दे दी है। वह जगह मै तुम्हे दे दूंगा और खुद खडा रहूँगा। तुम भीतर आ जाओ।" और बिना क्षणभर रुके, मैने उन दोनो जवानोसे कहा—"तुम्हारे लिए खिडकी नही खुलेगा, तुम कही और चले जाओ।"

तुरन्त वे दोनो चले गये और मैने बूढेको भीतर ले, अपनी जगह बैठा दिया। मै कुछ देर तो खिडकीपर झुका रहा और फिर दीवारसे लगकर

खडा-खडा अपनी पुस्तक पढने लगा। कोई २० मिनट बाद खानने पूछा—"तुम क्यो खडा है मेरे भाई ?"

सरलतासे मैने कहा—"खान साहब, आपने मेहरबानी करके जो जगह मुझे दी थी, वह मैने बूढे बाबाको दे दी, लेकिन मुझे कोई दिक्कत नही है, आप आरामसे लेटिए।" खानने बिना अपनी गभीरता भग किये, कहा—"नही, तुम भी बैठो।" खानको धन्यवाद देकर मै बैठ गया।

दूसरे स्टेशनपर गाडी ठहरी, तो मैने एक स्त्री और उसके बालकको अपनी जगह बिठा दिया और खडा हो गया। कुछ देर बाद खानकी बीवीने खानके कानमे कुछ कहा और खानने मुझे फिर बैठा दिया।

अब दोपहर भर गई थी। सोनेके लिए करवट लेते-लेते खानने मुझसे कहा—"तुम चाएगा, तो किसीको बैठाएगा, पर तुम जरूर बैठेगा—हम सोता है।"

और खान जब सोकर उठा, तो हम १२ थे। खान देखकर हँसा और बोला—"सरकार तुमको रोज बौम्बे मेलमे रखे, तो बौत मुसाफिरको आराम होगा।"

मैने कहा—"पर खान साहब, आपको भी मेरे साथ रहना पडेगा; नही तो मुझे खाली डब्बा कहाँ मिलेगा!" खान और उसकी पत्नी इतने जोरसे हँसे कि मजा आगया।

शामको ७ बजे मै अपने स्टेशनपर उतरा, तो खानने मुझसे हाथ मिलाया और उसकी बीबीने मुझसे पहले मुझे सलाम किया।

खानकी सख्ती क्यो छूमन्तर हो गई थी ?

खान देनेको क्यो उतावला हो उठा था ?

मेरी सफलताका रहस्य क्या था ?

धूपबत्ती तीन दियासलाइयोमें क्यो न जली ?

चौथी दियासलाईके छूते ही क्यो जल उठी ?

देख रहा हूँ—धूपबत्ती झम-झम जल रही है और मेरी कोठरी उसकी भीनी सुगन्धसे भरी है। सोच रहा हूँ—यह पहली दियासलाईमे जल जाती, तो यह बात और बातमे छिपी बात मैं कैसे पाता ?

सहो मत, तोड़ फेंको !

[१]

कई साल बाद मैं अपने उन मित्रके घर गया, तो मुझे वे एक नया आदमी-सा लगे। हँसी उनमे फूट-बिखरी, तो मस्ती उठ-उभरी; चुलबुले वे इतने कि राह चलतोसे छेडकर बाते करे, पर अब देख रहा हूँ कि उनपर एक बोझ-सा लदा है और जैसे वे कुछ खोये-खोये-से है। वे हँसते है, तो उस हँसीमे कही प्राण नही और जी रहे है, तो जैसे अनमने होकर !

देखा था वसन्त, तो देख रहा हूँ पतझड, बहुत अजीब-सा लग रहा है उनके साथ रहना, पर पूछता हूँ उनसे कि भाई, यह सब क्या है, तो कहते है—"कुछ नही, बहुत दिनमे मिले हो, तभी ऐसा लगता है, ठीक तो हूँ।" पर ठीक कहनेसे ठीक हुआ करता, तो यह दुनिया आज तक जाने कैसी हो गई होती। देख रहा हूँ कि चल तो सभी कुछ रहा है, पर चूल हिली हुई है।

"क्या मैं आपके पीछे आपकी डायरी पढ सकता हूँ इन तीन वर्षोंकी ?" दफ्तर जाते हुए मित्रसे मैंने पूछा, तो वे खोखली-सी आँखोसे मुझे देखते रह गये। मुझे मालूम था वे बराबर डायरी लिखते है और उस डायरीमे वे खुद होते है, तो उसमे उनके मनका बोझ भी होगा !

मित्र बोले कुछ नही, अपनी दराजसे निकालकर दो वर्षोंकी डायरियाँ मेरे पास रख गये। दोपहरमे मैंने चालू वर्षकी डायरी उठाई, तो ५-७ दिन पहले पेजपर उन्होने अपने मानसिक सघर्षका यह सार दे रक्खा था—

"देख रहा हूँ कि गभीर होता जा रहा हूँ और जिस प्रसन्नताके सहारे

मौत जैसे मोर्चोपर भी मैंने हार न मानी, वह बुझती जा रही है। इस तरह मैं एक धनकुबेरसे निर्धन होता जा रहा हूँ और डर है कि यह निर्धनता मुझे भिखारी न बना दे।

यह क्यो हो रहा है ?

पिछले दो वर्षोमे मै अपनोके द्वारा बहुत पीडित हुआ हूँ। कसाई जो जानवरको कत्ल करता है, वह उस पीडासे बहुत कम है। उसका प्रहार एक बार होता है, यह निरन्तर हुआ है। उस पीडाका प्रहारके बाद अन्त हो जाता है, यह प्रहारके बाद और भी उफनती है। फिर यह प्रहार उस मनुष्यके हाथो होता है, जिसका हित ही उस प्रहारकी सफलतामे है। यह प्रहार उन हाथो हुए कि जिनका हित मेरे जीवनके साथ नत्थी है।

क्या मै उनसे कमजोर हूँ ?

जिनके द्वारा ये प्रहार हुए है, मै उनसे कमजोर नही हूँ, क्योकि वे मुझपर निर्भर है, मै उनपर नही। फिर ? फिर क्या, मै अपनी नम्रता और अपार स्नेहसे उन प्रहारोको सह गया हूँ। मुझे सुख है, सतोष है कि मैंने प्रहारपर प्रहार नही, प्रहारपर प्यार ही किया है, पर इसमे सदेह नही कि ये चोटे मेरी मस्तीको चाट गई है।

सघर्षमे खिलने और खेलनेकी आदत रही है। कभी भय और आशका मुझे स्पर्श भी नही कर पाते। सघर्ष उत्तेजना देता है और वही उत्तेजना सघर्ष लडती है, इस तरह थकानका पास फटकना सभव ही नही होता।

फिर मै थक क्यो गया ?

मै थक इसलिए गया कि इस सघर्षमे उत्तेजना नही, हीनताका धुवॉ ही चारो ओर भरा रहा। मै कुछ कहूँगा, तो इन्हे दुख होगा, इस भावनासे मै उस नरकको सहता रहा, जिसे वे पूरी ताकतसे उछालते रहे और इस तरह, मेरी जीवन-शक्ति कुण्ठित होती गई।

क्या इसका कोई उपाय न था ?

उपाय था असहयोग, दीनता और हीनतासे दूर हो जाना और उन्हे अपनेसे दूर झटक देना, पर स्वभावकी गहरी ममता उन्हे दुत्कार न पाई और पुचकारसे वे अपनेको सभाल न पाये। मैंने बहुत बार सद्भावनासे दुर्भावना पर विजय पाई है, पर इस बार दुर्भावना इतनी प्रचण्ड है कि मै उसे ममताकी आँचसे पिघला न पाया और खुद ही उसमे झुलस गया हूँ।

उनपर इसका क्या प्रभाव पडा ?

देख रहा हूँ कि मेरे मिटते जानेसे उनपर प्रभाव पडता है, पर यह प्रभाव उन्हे उनकी हीनतासे विमुख नही करता, उल्टे प्रचड होकर वे पूछते हैं—यह मिट क्यो रहा है ? वे उस डाक्टरकी तरह है, जो रोगको तो समझना नही चाहता, पर दवा देनेके लिए आग्रही है। वे अपनेको बदलकर मुझे पलभरमे ताजगी दे सकते है, पर यह शायद वे सोचते ही नही।

सोच रहा हूँ कि वे बदलेगे या मै ही करवट ले जाऊँगा और सीख रहा हूँ कि बहुत नम्रता एव कोमलताका भी यह युग नही है।"

मित्रकी डायरीमे और भी बहुत कुछ था, पर मेरे लिए अब उसकी आवश्यकता न थी, क्योकि मेरे सामने स्पष्ट था कि मित्र महाशय आत्मी-योके आत्महीन व्यवहारसे पीडित है। यह पीडा उनके लिए असह्य है, पर वे करे क्या ? और कुछ कर नही पाते, तो घुल रहे है।

[२]

जानकारी पूरी हुई, तो जी-जानसे मुझे लिपटी। मेरे मित्र मिट रहे हैं और इस मिटनेमे उनकी ममता है आधार। इस तरह लगता है कि अपनोको सहकर वे कुछ श्रेप्ठ कार्य कर रहे है, पर श्रेष्ठ कार्यका परिचय-सपर्क पाकर मनके भीतर जो चिकनाई आया करती है, वह नही आ रही और लग रहा है, जैसे यह सब कुछ शुभ नही है, सुकार्य नही है।

सहो मत, तोड़ फेंको !

मै मित्रके कमरेमे उनके पलगपर पडा सोच रहा हूँ । सोचनेको कोई विशेष विचार केन्द्रमे नही है, पर वैसे विचार इतने है कि भीड लगी है विचारोकी और उसमेसे किसीको जानना-पहचानना ही मुश्किल है, तो पाना कहाँ ?

सपनोमे कहीकी कडी कही मिल जाती है। मै भी इस समय ठेठ जागरणमे हूँ, पर सपनोसे कम नही। मेरे भटकते विचारोकी कडी भी यह लीजिए जा मिली है मेरे एक पुराने मित्रके साथ ।

उनमे प्रतिभा भी है और पुरुषार्थ भी। उनमे पत्रकार-कलाके गुणोका अनुपम विकास हुआ है और वे अपना आपा उसे दे पायँ, तो एक चमत्कार कर दे। अपने राज्यकी राजनीतिके वे प्रथम पुरोहितोमे है और वे राज-नीतिमे ही समाये रहते, तो उस राज्यके मन्त्रि-मण्डलकी सदस्यता तक पहुँचते, पर हुआ यह कुछ नही और उन्नतिकी नाव एक मामूली स्कूलकी अस्थायी अध्यापकीतक ही पहुँच पाई। वाते वे भले ही सदा एक ऊँचे धरातलसे करते रहे, पर थके-थके और निचुडे हुए, जैसे साँस चल रहे है और जान निकल गई। प्रतिभा यदि कोई स्थायी तत्त्व है, तो कहना चाहिए कि उनकी पैनी प्रतिभा कुण्ठित हो गई।

पत्नी अनपढ है, सो कोई बात नही, पर अनगढ है और मूर्खताका ऐसा एक भी तत्त्व नही, जो उसमे भरपूर न हो। वह जीवनमे एक ही सफलता मानती है—पैसा और इस दृष्टिसे उसका पति एक असफल मनुष्य है—एक अत्यन्त मामूली आदमी, जो परिवारको न रेशम दे सका, न मक्खन।

इन असफलताओकी जडमे पतिकी विशेषताएँ है यह वह नही समझ सकती और नई सफलताओके लिए आज वह नये प्रयत्न नही कर पाता, उसका कारण घरका निराश वातावरण है, जिसकी जननी वह स्वय है,

यह उसे ब्रह्मा भी नही समझा सकता। नतीजा यह कि हर समय उसका विद्रोह भडका रहता है—बकझक, ठोक-पटक, मारा-पीटी और आँसू उसके जीवन-सहचर हो गये है।

मेरे ये मित्र क्या करते है ? प्रश्न जरूरी है और इससे भी जरूरी इस प्रश्नका उपप्रश्न कि वे इन सबको पत्नीका अपराध मानते है या अधिकार ? यदि यह अपराध है, तो दण्ड चाहता है, भले ही यह दण्ड हिंसाका 'लात-घूँसा कमर मध्ये' हो या अहिंसाका अनशन और अधिकार है, तो यह स्वीकृति चाहता है।

सचाई यह कि आज न यह अपराध है, न अधिकार, अब तो यह उस परिवारके वातावरणका एक अग है—अनिवार्य अग, जिसे सहना है, सहे जाना है, यदि छेडकर उसे और ज्यादा बढाना न हो।

सोचनेका अवसर तब था, जब यह आरभ हुआ, पर तब मेरे मित्रने उससे टक्कर नही ली। उससे बगलगीर होनेकी, उसे सहकर शान्त करनेकी, पचानेकी चेष्टा की। निश्चय ही पत्नी समझदार होती, तो इस सहनपर नम्र पड जाती, कोमल हो उठती, पर मूर्ख थी, सो अकड गई और यहाँ तक कि लकडी हो गई—अब टूट सकती है, मुड नही सकती।

मै अक्सर देखता हूँ, मेरे मित्र अपने जीर्ण-शीर्ण शरीरसे ८-१० घण्टे काम ले, शामको ५ बजे घर आते है। आवश्यक है कि उन्हे घर आते ही चाय मिल जाय, पर उन्हे कभी अगीठी जागती नही मिलती। वे कुछ कहे, तो होहल्ला मच उठे और बकझक, ठोक-पटकका समारोह आरभ हो जाय। उनकी समझदारी उन्हे सहारा देती है। वे अगीठी जलाकर चाय बनाते है। पीते है, पिलाते है और शामके भोजनकी तैयारीमे पत्नीको सहयोग देते है—इसे शान्त रहनेकी रिश्वत समझिए।

'इसका जी दुखी न हो' और 'यह किसी तरह शान्त रहे' बस इसी

धुरीपर उनकी जीवनचर्याका चक्र घूमता रहता है। दूसरोके दिल न दुखनेका धुवाँ जैसे उन्हे घेरकर घोट रहा है।

[३]

इन मित्रकी वात पूरी हुई है, तो फिर उन्ही मित्रकी वात सामने आ गई है और यह लीजिए, दोनो मित्रोकी वात रल-मिलकर अपनेमे एक हुई जा रही है; जैसे ये दोनो दो न होकर एक ही हो। दोनो मिलकर जैसे एक ही स्वरमे मुझसे पूछ रहे है—यह जो हम इतनेसमयसे अपनोके अत्याचार चुपचाप सह रहे है, हमारी किसी निर्वलताका दण्ड है या ममताका यज्ञ ? और मेरे भीतर जैसे कहीसे उनके प्रश्नके उत्तरमे एक नया प्रश्न गूँज रहा है—किसीकी दुष्टता, मूर्खता या निर्वलताको सहना पाप है या पुण्य ?

प्रश्न एककी जगह दो हो गये है, पर दोसे सौ भी हो जायँ, तो क्या, प्रश्नका उत्तर प्रश्न तो नही है। मुझे समाधान चाहिए, तो पडा हूँ मै मित्रके पलगपर अपनी देहसे और जाने कहाँ-कहाँ घूम रहा हूँ अपने मनसे। घूमते-घूमते मै अपने जीवनके एक वीते सघर्पके बीचसे निकल गया हूँ—और तव मेरे सामने आ गया है वह सूत्र, जो उस सघर्पमे एक दिन मेरे हाथ आ गया था। लग रहा है कि उस सूत्रमे इन प्रश्नोका समाधान है।

वह सूत्र यह है—तुम जिस सघर्षमे, सहनमे, दौड-धूपमे, वाजीमे, लगनमे जुटे हो, जूझ रहे हो, वह तुम्हारे लिए ठीक है या नही, पकड़े रखने लायक है या छोड देनेके काविल, इसकी कसोटी यह है कि तुम यह देखो कि उस सघर्पसे, दौडधूपसे, तुम्हारी मानसिक शक्ति—भीतरी शान्ति, सन्तुलन, आनन्द और स्थिरता—वढ रही है या घट रही है ?

यदि इस प्रश्नका अपने ही भीतर, अपनेको, अपने आप दिया उत्तर है यह कि वढ रही है, तो हार हो या जीत, लाभ हो या हानि, तुम अपनी

जगह खडे रहो, अपनी धुनमे जुटे रहो, हारकर भी जीतोगे, खोकर भी पाओगे, पर यदि तुम्हारी मानसिक शक्ति घट रही है, तो उस काममे लाभ ही लाभ लग रहा हो या विजयपर विजय सामने दीख रही हो, उसे तुरत छोड दो और इस बारेमे न किसीका परामर्श लो, न कहना मानो, बस तुरत उससे हट जाओ, उसे छोड दो, भले ही लोग इसके लिए तुम्हे लाछित करे, कायर कहे, तुम्हारी खिल्ली उड़ाएँ।

ऐसा लग रहा है कि मै प्रश्नोके भँवरसे निकलकर साफ-सुथरे तटपर आगया हूँ और वहाँसे साफ देख रहा हूँ कि मेरे इन मित्रोने प्रेमसे, ममतासे, उदारतासे, दयासे, सहिष्णुतासे, बुद्धिमत्तासे जो कुछ सहा है, उससे उनकी शक्ति नही बढी है; अरे भाई, साफ-साफ यह कि घटी है, तो वह सब पुण्य नही था, धर्म नही था, सुकार्य नही था।

मुझे खुशी हो रही है कि मै कुछ पा गया हूँ—कुछ कीमती चीज, कामकी चीज, निराली चीज और उस चीजकी मै जो छाड-पछोड कर रहा हूँ, तो मेरे मनमे उभर रहा है यह पूरक सत्य—'जब अपने घरमे, जीवनमे, वातावरणमे, अपने विरुद्ध कोई प्रतिवादी तत्त्व जागे, उभरे या बाहरसे आये, तो उसके पनपते-न-पनपते स्वय पच जानेकी भोली कल्पना न करो, उसे धो-माँजकर हो या झकझोरकर समो दो और यो सब काम छोडकर वातावरणको शुद्ध, साफ और सम कर लो।

यह सभव है कि उस प्रतिवादी तत्त्वके विरुद्ध मनमे क्रोधकी प्रतिक्रिया उपजे और एक क्रूर आक्रमणके साथ उसे मिटा देनेकी भावना जग उठे, अपनेमे उसे मिटा देनेकी ताकत महसूस हो, तब भी उससे बचो, यही श्रेयस्कर है, क्योकि वृत्तियोकी प्रचण्डता विरोधीको चोट पहुँचाये या नही, जिस हृदयमे वह घुमडती है उसे अवश्य क्षत-विक्षत कर डालती है।

यही यह भी—सभव है कि उस प्रतिवाद तत्त्वके सबन्धमे कोमलताकी प्रति-

क्रिया मनमे उपजे और एक नरमीके साथ उसे सह जानेकी भावना जाग उठे, अपनेमे उस सहते रहनेकी ताकत भी महसूस हो और सफलतामे १०० फी सदी विश्वास हो, तब भी उससे बचो, क्योकि वृत्तियोकी दीनता विरोधीको चोट पहुँचाये या नही, जिस हृदयमे वह पनपती है, उसे अवश्य मलीन कर डालती है।

इसलिए क्रूरता और दीनता, दोनोसे बचो और प्रतिवादी तत्त्वको अपनेसे तोडकर दूर फेक दो, उससे दूर हो जाओ। उससे असहयोग कर दो, यदि सत्याग्रह करके उसे समो नही सकते, पचा नही पाते!

अपने दु खित मित्रको डायरी पढकर, उनके दु खको जान-समझकर, जो कुछ सोचा है, वह सब सक्षेपमे उनसे कह दिया जाये, यह भाव मनमे जागा कि यह सूत्र बना—'दूसरेकी कमजोरीको सहना, उसे दूर करनेका उपाय करना, जीवनका उत्थान है, पुण्य है, पर इसके लिए अपनेमे कमजोरी लानी पडे, तो यह पतन है, पाप है, अकार्य है। दूसरे शब्दोमे किसीकी हीन वृत्तिको अपनी उच्च वृत्तियोकी ढालपर ले लेना सत्कार्य और स्वय ही इसके लिए हीन वृत्तियोसे घिर जाना असत्कार्य है। साफ शब्दोमे हम झुककर, मुडकर, भले ही किसीको उठा सके, अपना सके, पर स्वय गिरकर तो हम यह नही कर सकते!

सन्त कविने शायद इसी सत्यको अपनी भाषामे यो कहा है—"तजो रे मन, हरि विमुखनको सग!"

मैं भी लड़ा, तुम भी लड़े, पर जीता कौन ?

[१]

मेरे एक अभिन्न मित्र थे—थे इसलिए कि अब वे इस दुनियामे नही है। हम दोनो आपसमे इतने घुल-मिल गये थे कि दो होकर, दो दिखाई देकर भी, दो न थे।

दुनियाका स्वभाव है कि ऐसा मेल उसे भला नही लगता और इस दुनियामे ही कुछ है, जो मौकेकी तलाशमे रहते है कि कब इनके मनो खटाई पडे।

मेरे मित्रकी पत्नी मर गई और मेरे कुटुम्बकी एक कन्याके रिश्तेको लेकर हम दोनोमे खासा खिचाव आ गया। मैने कोशिश भी की, पर खिचाव यही नही कि ढीला नही पडा; यह भी कि उसमे दिन-दिन तनाव आता गया। अब हमारा मिलना-जुलना और बोलचाल भी बन्द। यारोने इसका लाभ उठाया और उन्हे अपने हाथोमे ले लिया।

एक दिन विश्वसनीय समाचार मिला कि वे मुझपर यह दीवानी दावा करनेवाले है कि मैने उनकी स्वर्गीय पत्नीका धरोहर रक्खा ३०००) का जेवर मार लिया है। सुनकर गुस्सा भी आया, हँसी भी आई।

समयकी बात उसी दिन शामके झुटपुटेमे मुझे मिल गये वे और बच-कर— आँख बचाकर—एक तरफको निकलने लगे, पर मै क्यो चूकता। मै उनके सामने जा टिका और कन्धे हिलाकर उनसे कहा—"अरे भाई, अभी तो दावा ही लिखा गया है, अभीसे बचकर निकलने लगे, तो आगे क्या करोगे? हमने तो यहाँतकका इरादा बाँध लिया है कि मुकदमा जमकर लडेगे और तुम्हे ही जेल भिजवाकर हटेगे, पर मित्रताका तकाजा

तो यह है कि तुम्हे जेल हो जाय, तो मै तुम्हारी और तुम्हारी बच्चीकी खबर रक्खूँ और मुझे जेल हो जाय, तो छूटनेके दिन तुम ही दरवाजेपर मिलो, पर तुम तो अभीसे साथ छोड रहे हो!"

सुनकर उनका खून जम-सा गया। मेरा हाथ पकडकर बोले—"घरतक चलो" और घर पहुँचते ही मेरे पैर पकडकर रोने लगे। मै भी रो पडा और सक्षेपमे बात यह हुई कि हम दोनो फिर ज्यो के त्यो एक हो गये।

[२]

मेरे एक दूसरे मित्र है—डबल एम० ए० और कॉलेजके प्रोफेसर! नगरमे उस दिन एक सम्मेलन था। वातावरण असफलताका था, पर मेरे कहनेसे प्रोफेसर साहबने खुद शहर भरमे ऐसा रसीला ऐलान किया कि हवा बन्ध गई।

सम्मेलन सफलताके किनारे छू गया, पर जब स्वय प्रोफेसर साहब माइकपर आये, तो एक दुर्घटना हो गई कि वे कुछ कह रहे थे और मैंने उन्हे सक्षेप करने को कहा, तो वे भडक उठे। यह भडक मुँह बनाकर ही न रुकी, यहाँतक मुँह चला बैठी कि मै उनकी गालियोका शिकार और गालियाँ भी मामूली नही, नम्बरी जन्नाटेदार!

लाउड स्पीकर विवेकहीन निकला और उसने उन्हे भी फैला दिया। श्रोता अप्रसन्न, तो साथी अवसन्न, पर मैंने तुरन्त उन्हे माइकके पाससे हटाकर एक सुरीले गलेकी कवयित्रीको वहाँ खडा कर दिया।

सम्मेलनके साथी लिपटे कि प्रोफेसर मुझसे माफी माँगे। वातावरण फिरसे गरम होनेको ही था कि मैंने कहा—"जब मुझे यह अधिकार है कि मै उसे गली-गली ऐलान करनेको कहूँ, तो उसे भी यह अधिकार क्यो नही

है कि गुस्सा आ जाए तो चार कडवी बात कह ले ?" फिर यह मेरी उनकी व्यक्तिगत बात है, कोई सार्वजनिक मसला नही !

बात समाप्त हो गई, पर कई दिनतक मेरा मित्र प्रोफेसर मेरे पास न आया। मेरी तबियत खराब थी, इसलिए मैंने उसे एक कार्डपर ये पंक्तियाँ लिख भेजी—

मैंने तो समझा था नखरा,
पर यह निकला गुस्सा,
नखरेपर बलि जाऊँ तेरे,
गुस्सेपर दूँ घुस्सा !
नखरा है, तब भी झट आओ,
तुमको चाय पिलाऊँगा,
गुस्सा है, तब भी आओ तो,
चप्पलसे चमकाऊँगा !

दूसरे दिन कॉलेजमे उन्हे यह पत्र मिला, तो समय काटना, कहते थे उन्हे भारी हो गया और छुट्टीका घण्टा बजते ही सीधे मेरे पास आये। मुझे पता था ही कि वे आयँगे, तो बस आते ही उन्हे गरम चाय तैयार मिली।

वे माफीकी भूमिका बाँधने लगे, तो मैंने कहा—"इस भूमिकामे क्या रक्खा है भाई, अब तो चायकी पुस्तकका रसपान कीजिए।"

चाय पीकर बोले—"उस दिन बडी बेवकूफी हो गई भाई साहब !"

मैंने आँखे तरेरकर कहा—"किससे ?" और बस हम दोनो हँस पडे।

[३]

उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक हो रही थी और पूज्य टण्डनजी सभापति थे। गाधी-इरविन समझौतेके दिनोकी बात है। टण्डनजी किसी

कामसे दस मिनटके लिए बाहर गये, तो उपसभापति प० जवाहरलाल नेहरू उनके आसनपर आ गये।

किसी रूलिंगकी बात चल रही थी और बातोमे गरमी आ रही थी कि श्री महावीर त्यागीने एक विधान-ग्रन्थ खोलकर उनकी मेजपर रखते हुए कहा—"देखिए पेज नम्बर साठ, आप रूलिंग देनेके लिए बाध्य है।"

तकाजा और प्रतिवाद जवाहरलालके स्वभावको पचते नही। उनकी आँखे तन गई और नसोमे बहता खून दौड चला—पेंसिलकी नोकसे किताबको मेजके नीचे फेंक, वे बोले—"मैं ऐसी ६० किताबे रोज लिख सकता हूँ।"

त्यागीजीने इसे अपमान माना कि उनके मुँहसे निकला—"यह सभापतिजीकी ज्यादती है और उधरसे वे किताब फेंक सकते है, तो इधरसे भी कुछ फेंका जा सकता है, मसलन !

धीरेसे कहे उनके अन्तिम शब्दने, जिसमे ऊ और आकी मात्रासे जुडे सिर्फ दो ही अक्षर थे, पूरे भवनमे हडकम्प मचा दिया और दोनो तरफके मित्र एक साथ चिल्ला उठे—माफी माँगिए—माफी माँगिए।

मेज पीटनेका वातावरण सिर पीटनेके वातावरणसे भी रुद्र हो उठा कि तभी लौट आये टण्डनजी अपने दोनो कन्धोको आदतका टकोरा-सा देते हुए। अब दोनो तरफके साथी उन्हे अपना-अपना पक्ष समझानेको बेचैन कि जवाहरलालने कहा—"मेरे और त्यागीके बीच यहाँ कुछ निजी बाते हो गई है, पर मैं समझता हूँ कि यह मुनासिब होगा कि हम उस मसलेपर विचार करे, जिसपर पहलेसे कर रहे थे। मेरा खयाल है कि त्यागी भी इससे मुत्तफिक होगे।"

त्यागीजी बेचारे मुत्तफिक न होते, तो क्या करते! मीटिंगके खत्म होनेपर कुछ लोगोको दिमागी खाज उभरी कि उस घटनापर विचार हो,

पर तभी उन्होंने देखा कि जवाहरलालजी त्यागीका हाथ पकड उन्हे अपनी मोटरमे बैठा ले गये है।

[४]

ये हुए तीन सस्मरण, पर तीन होकर भी जैसे एक ही तो; क्योकि नाम-रूपकी भिन्नतामे भी बात तो इतनी ही है कि दो मित्र आपसमे दूध-मिश्रीसे मिले, एक दिन आ गया गुस्सा और हो गये नीम—बस दोस्ती खत्म और बोलचाल बन्द, यानी हो गई लडाई।

हाँजी, लडाई तो हो ही गई, पर प्रश्न तो यह है कि अक्ल बडी है या भैस ? और सचमुच अक्ल ही बडी है, तो इस पहले प्रश्नमेसे यह नया सवाल-भी पैदा होगा ही कि यह क्या बात है कि जो आज मिश्री हैं, वे कल नीम हो जाएँ और जो एक दूसरेसे मिले बिना, आज भोजन नही पचा पाते, वे कल एक दूसरेकी सूरत देखनेसे भी बेजार हो उठे ?

यह गुस्सेकी काली करामात है और गुस्सा है आदमीकी मजबूरी। बडे-से-बडा क्रोधी भी नही चाहता कि उसे क्रोध आये, पर वह आता है और ऐसा आता है कि आदमी भूत हो जाये।

मान गये कि आदमीको गुस्सा आयगा ही और दो मित्रोमे आपसी लडाइयाँ भी होती रहेगी ही, इसलिए यहाँ प्रश्न यह नही है कि गुस्सा क्यो आये, प्रश्न यह है कि गुस्सा जब आ ही जाये, तो हम क्या करे ?

इस जरूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर पहले दो सस्मरणोमे है कि यदि दुर्भाग्यसे दो मित्रोमेसे किसी एकको गुस्सा आ ही जाय, तो यह क्यो जरूरी हो कि दूसरा भी आपेसे बाहर हो ? क्या हम किसीको मैले कपडे पहने देखकर अपने साफ कपडोपर धूल डालते है ? किसी लगडे या कानेको देखकर अपनी टाग तोड लेते या आँख फोड लेते है ?

नही, हम ऐसा नही करते। यह ठीक भी है, तो फिर अपने मित्रको गुस्सा आ जानेपर हम स्वय भी आग-बबूला होना क्यो जरूरी समझते हैं ?

जब हमारे मित्रको गुस्सा आता है, तो क्या यह कोई अच्छी बात होती है ? नही, तो फिर हम एक बुरी बातकी नकल क्यो करे ? उन्हे गुस्सा आ गया, तो आ गया, पर आप यत्न करके, उसे मित्रकी एक मजबूरी मानकर चुप रहिए, शान्त रहिए, मधुर रहिए और इस तरह अपने मित्रकी मदद कीजिए।

[५]

"और क्यो जी, जो दूसरेके गुस्सेको देखकर या बातचीतमे दूसरेके साथ ही साथ हमे भी गुस्सा आ जाए, तो क्या करे ?"

प्रश्न उचित है, आवश्यक है, क्योकि सोच विचारकर तो किसीको गुस्सा आता नही। कहा नही कि यह तो आदमीकी एक मजबूरी है और मजबूरीपर काबू पाना अभ्यासका, साधनाका विषय है, इसलिए गुस्सा हमे भी आ ही जाए, तो हम क्या करे ?

इस प्रश्नका उत्तर तीसरे सस्मरणमे है कि गुस्सा आ गया, लड लिये और लड लिये कि बस फिर एकके एक हो गये।

गुस्सा आया, लड लिये और गुस्सा उतरा कि बस ज्योके त्यो, यह एक मनुष्यका चित्र है।

गुस्सा आया लड लिये और गुस्सा उतरा कि एक दूसरेको मिटानेमे जुट गये, यह एक भेडियेकी तस्वीर है।

गुस्सा आनेपर, गुस्सेमे गाली-गलौज, मार-पीट कर लेनेपर भी आदमी आदमी ही रहता है, पर गुस्सा उतर जानेपर भी गुस्से जैसा ही व्यवहार करनेसे आदमी भेडिया हो जाता है और जो दूसरेको गुस्सा आनेपर भी

खुद शान्त रहे, गुस्सा न करे, तो आदमी देवत्वकी ओर बढने लगता है। आप आदमी है, उन्नति कीजिए, देवता वनिये, पर ऐसा न कर सके, तो कम से कम आदमी तो वने रहिए।

[६]

और क्यो भाई; हम आपसमे लडते क्यो है ? लडाईकी पृष्ठभूमि है प्रतिद्वन्दिता और उसका उद्देश्य है दूसरेको, सामनेवालेको, प्रतिद्वन्दीको हराकर उसपर विजय पाना।

अच्छा, इस विजयकी कसौटी क्या है ? मै युद्धशास्त्रकी वात नही करता, आपसी लडाइयोकी वात करता हूँ, जो वातो-वातोमे छिड जाया करती है।

लडाई मेरी भूलसे शुरू हुई या आपकी, वह हो गई, वज गई और खूव वजी। दोनोने अपने हाथ दिखाये, किसीने कसर न छोडी, अव प्रश्न यह है कि तुम भी लडे, मै भी लडा, पर जीता कौन ?

क्या वह जीता, जिसने ज्यादा गालियाँ दी या ज्यादा हाथ मारे ? ना, मै उसे विजयी माननेसे इन्कार करता हूँ और कहना चाहता हूँ कि जीता वह,जो गुस्सा उतरनेपर, शान्त होनेपर, विवेकके जागनेपर और यह सोचनेपर कि वडी वेवकूफी हो गई, जो गुस्सेके चक्कर चढ-घूमे, न झिझकमे पडता है, न सकोचमे और सीधा उसके घर पहुँचता है, जिससे लडाई हुई थी और कडवाहटको मिठासमे वदलकर वातावरणको फिरसे सम कर देता है।

अपने मित्रोमे कभी अपनी ओरसे लडाईकी हवा न आने दीजिए, आपके किसी मित्रको गुस्सा आ ही घेरे, तो स्वय शान्त रहिए, वातको तरह दीजिए, टाल दीजिए और आपको भी गुस्सा आ ही जाए तो लड लीजिए, पर गुस्सेके उतरते ही मित्रके पास पहुँचिए और चाय पीकर ही उठिए।

एक तस्वीरके दो पहलू !

[१]

मैं एक जगली नागरिक हूँ। जगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमे, खाता-पीता और जीता हूँ नगरमे, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जगलोसे, खेतोसे, उपवनोसे, झीलोसे पर्वतोसे। जगलमे बैठकर, प्रकृतिके साथ मिलकर, बाते करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक है।

मेरे मित्रोमे और परिवारमे ऐसे भी लोग है, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड कहते है और ऐसे भी, जो बातचीतमे घुमाव-फिराव पसन्द नही करते और सीधे-सीधे मुझे आवारा कहते है। उन दोनोकी तर्क-शैली सक्षेपमे यह है—"अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी-मित्रोमे, यह क्या कि जगलमें इकले जा पडे!" उन्हे समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भई, जगलमे जाकर भी जो अपनेको इकला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते है कि मैने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो!

तो जगलोमे घूमना और यूँ कहूँ कि नित-नये जगलोमे घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोके बागमे। यहाँ सैकडो बन्दर रहते है। वे क्या खाकर जी-पनप रहे है, मैं नही जानता, पर हाँ मगलके दिन नगरके दो-चार पुराने विचारोके सज्जन यहाँ आते और इन्हे हनुमानका रूप समझ, चने और गुड अवश्य खिला जाते है। पता नही उन्हे उससे लोक-परलोकमे क्या फल मिलता होगा, पर यह अवश्य है कि यहांका वानरदल न तो मनुष्योसे द्वेष ही रखता है और न भय ही

खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमे बँधकर हिल-सा गया है।

मै एक वृक्षकी छायामे बैठ गया और सस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाजभरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमे पहुँचा देती है। पढते-पढते मै झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढने लगा। देह शिथिल हो गई। आँखोमे नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

[२]

नशा जरा ढीला पडा, तो मेरा ध्यान वानरदलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमे मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमे खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढने लगा, तो तीसरेने उसकी पूँछ पकडकर खीच ली। जिसकी पूँछ खीची गई थी, उसने उलटकर खीचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षपरसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोमेसे एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोने यह बात भाँप ली और उस बडे बच्चेको बलपूर्वक पकड, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तडातड उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटौती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमेसे एकको गुदगुदाकर फिर पेडपर चढ गया। प्यारमे हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारो ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया—चारो ओर सरसता बरस-बरस गई।

[३]

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानरमाता अपने दो शिशुओको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होगे दोनो, पर वे अपनी बालसुलभ चचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामे थे। माँ जबतक एकको चुमकारकर सुलानेका प्रयत्न करती, तबतक दूसरा उठ दौडता और जब वह दूसरेकी ओर दौडती तो पहला अपनी बालक्रीडा आरभ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोमे दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नमे जुट पडता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यो भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

[४]

एक तीसरे तरुकी शीतल छायामे एक वानर-दम्पति पृथक् ही अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जघापर अपना मस्तक रक्खे, मीठी नीद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमे लपेटे था, मानो किसी ऋषिका मूर्तिमान आशीर्वाद किसी विपदग्रस्त अवलाकी रक्षा कर रहा हो। वानरीका दक्षिण हस्त किसी देवबालाके वरदहस्तकी भॉति वानरके ललाट प्रदेशपर विलसित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्त्विक शान्तिकी सरल आभा सुप्त सौन्दर्यकी प्रकाशमालाके साथ छिटक रही थी और वानरीकी चमकीली एव मादक ऑखोमे प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पुण्य प्रतिबिम्ब, मानो प्रशस्त प्रकाशपूरित चन्द्रकी विमल ज्योत्स्ना-द्वारा प्रक्षालित फूलके दो सुन्दर कटोरोमे निर्मल ओस-बिन्दु प्रोल्लसित हो रहे हो।

पुनीत दाम्पत्य महामायाकी कल्याणमयी विभूति है। पारस्परिक

प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिविम्व।

[५]

चारो ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले इस वानर-जीवनसे मै वहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा—इनमे परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्षा, न द्वेप, न दूसरोको गिराकर स्वय आगे वढनेकी पतित भावना। प्रकृतिकी पुनीत गोदमे ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे हैं। मै कविके कल्पित प्रेम-जगत्से कपियोकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घरकी ओर चल पडा।

मै पहले भी कई वार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमे एक प्रकारकी आत्मीयता हो आई। फलत आज यहाँसे चलते समय मैने हृदयमे एक मीठी कसकका अनुभव किया।

निजत्व क्या है? इसका उद्गम कहाँ है? इसमे इतना आकर्पण क्यों है? जीवनके अन्वेपणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोका समाधान दो हृदयोकी अनुकूलता एव विराटके साथ सूक्ष्मकी एकत्व आकाक्षामे सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भापा समझनेवालोके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा?

[६]

मै अपनी विचार-वाटिकामे एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे-घरकी ओर आ रहा था। अचानक कही पास ही वानरदलकी क्रोधभरी खो-खोने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आँखे ऊपर उठा, मैने जो दृश्य

देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मै अवाक् रह गया !

एक जालीदार गाडीमे पचास-साठ वानर वन्द थे। सभीके मुख-मण्डलपर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक दूसरेको फाड खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध !

गाडीवानने वताया—"ये सुन्दरपुरसे पकडकर हरद्वारके जगलोमे भेजे जा रहे है।"

मेरे कहनेपर गाडीवानने गाडी ठहरा दी। मै और भी पास आ, उन्हे गौरसे देखने लगा।

देखा—एक वानर शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनो हाथोमे दवाकर इस तरह चबाया कि खून बह निकला, वच्चा चिल्लाया, तडफा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मवेधक सयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मै इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उसमे ही धूल उडने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा ? मातृत्वमे भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमे किसी अन्य स्रोतसे स्नेह या सरसतावल्लरीके कुसुमित होनेकी सभावना कौन सहृदय करेगा ?

गाडीवानको प्रस्थानका सकेतकर, मै चल पडा। दूरतक वानरोके खॉव-खॉवका भीपण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यके विलकुल प्रतिकूल था, यो कहिए—ये दोनो एक ही तस्वीरके दो पहलू थे !

मै सोचने लगा—जो प्राणी उपवनमे प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, सरसताकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही गाडीमे बैठकर दानवताका अवतार, क्रोधकी ज्वालामुखी एव हृदय-हीनताकी मूर्त्ति कैसे हो गया ?

हृदयमे एक हूक उठी—स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमे यही तो अन्तर है ।।

जी, वे घरमें नहीं हैं !

यह भी अच्छा बहाना है, जी हाँ यह भी अच्छा बहाना है, पर अच्छा बुरा तो बादमें देखा जाएगा, पहले यह तो बताइए कि यह बहाना क्या चीज है ?

अरे, आप यह भी नही जानते कि बहाना क्या चीज है। इसे तो छोटे-छोटे बच्चे भी जानते है। आप भी कमालके सवाल पूछते है भाई साहब ! मेरा छोटा पुत्र अभी छ सालका है। उस दिन वह मेरी जेबमे हाथ डाल रहा था कि अचानक बाहरसे मै आ गया। मुझे देखते ही बोला पिताजी, देखिए आपकी जेब फट रही है, इसमे पैसे न डालिएगा, नही तो निकल पडेगे। मै अवाक् उस छोटेसे बच्चेकी तरफ देखता रह गया कि क्या बहानेकी पट्टी पढाई है बेटेने मुझे। अब चपत मारना तो दूर, घुडकी देनेका भी तन्त बिगड गया और मुझे कहना पडा कि बेटा, अपनी माँसे कहना कि इसकी मरम्मत कर दे। बेटा जान उस समय शायद सोच रहे होगे कि जेबकी मरम्मत तो बादमे होगी, इस समय तो हमने तुम्हारी ही मरम्मत कर दी।

यह है बहाना और आप पूछ रहे है कि बहाना क्या चीज है ? और हाँ, आप मुझसे यह सब क्यो पूछ रहे है। आप श्रीमती ज्ञानवती जीके यहाँ तो अक्सर जाते रहते है। वे इस कलाकी पूरी पडित है। आप चाहे, तो वे इस कलापर भाषण दे सकती है। याद नही, उस दिन हम लोग उनके घर बैठे थे। उनके पतिका स्वभाव उदार है और दूसरोको खिला-पिलाकर वे खुश होते है। उन्होने धीरे-से कहा—सब लोगोके लिए थोडी चाय तो बनवाओ।

सुनते ही श्रीमतीजीका दिमाग छछून्दर हो गया और उन्होने ऐसी कडवी आँखोसे उन्हे घूरा कि जैसे उन्होने अपनी नई शादीका ही प्रस्ताव

किया हो, पर छोटे मियाँ सो छोटे मियाँ, बडे मियाँ सुभान अल्लाह, उनके पति भी पूरे औघड निकले और जरा जोरसे बोले—हाँ भई, चाय-वाय तो बनवाओ।

श्रीमतीजीका पारा १०५पर पहुँच गया। ठीक भी है अभी तक तो चाय ही थी अब उसमे वाय और लग गया। चायके साथ वायका मतलब है पकौड़ी !

उस दिन पार्टीमे वकील साहब भी थे। वे ऐसे मौकोकी तलाशमे ही रहते है। अपनी दार्शनिक मुद्रामे बोले—हाँ भाई, पडितजीका प्रस्ताव तो त्रिपुरी काग्रेसके पन्त-प्रस्तावसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, हम लोग इसका बहु सम्मतिसे नही, सर्व सम्मतिसे समर्थन करते है।

श्रीमतीजीने देखा कि अब मामूली दवा काम नही दे सकती। उन्होने भैयाजीकी तरफ देखा। भैयाजी हर घडी कोई न कोई गोरखधन्धा बॉधनेमे मास्टर है। दोनोमे इशारे हुए और तब श्रीमतीजीने कहा—चलिए, मै आज आप लोगोको गुलाब रेस्टोरेन्टमे चाय पिलाऊँगी। वकील साहबने उत्फुल्ल होकर इस प्रस्तावका भी समर्थन किया और सब लोग उठ चले, पर श्रीमतीजी ऐसे रास्तेसे चली कि वकील साहबका घर रास्तेमे पड गया। वे सबको लिये उसमे घुस गईं और उनके पुरुषार्थसे चाय-वाय ही नही, मामला हलवेतक पहुँच गया। वकील साहब बहुत कुलमुलाये, पर उनकी एक न चली।

यह बहानेका एक उत्तम उदाहरण है। कहिए, अब भी आप समझे या नही कि बहाना क्या चीज़ है ?

"जी, खूब समझ गया। सचमुच आप जैसा समझानेवाला बडे भाग्यसे मिलता है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपकी राय यह है कि जब भगवान्‌के यहाँ बुद्धि बट रही थी, तो आप अगली पक्तिमे थे और मै सो रहा था।

क्या बहानेके तुक्कल उडा रहे है आप। मेरा प्रश्न यो फुर्र होनेवाला नही; जरा गहरा है। मै पूछ रहा था कि यह बहाना आखिर है क्या चीज, पर आप क्या समझेगे इस वातको। लीजिए, मै ही वता रहा हूँ, आपको अपने प्रश्नका उत्तर—वहाना एक पर्दा है।"

"पर्दा? बहाना एक पर्दा है!"

"जी हॉ, वहाना एक पर्दा है, पर घूँघट या बुरकेका पर्दा नही, सचाई और मनुष्यके बीचका पर्दा है यह। नही समझे आप। समझे भी कैसे। आखिर आपकी अक्ल सीमेटकी चादर-सी नही, लाल किलेकी दीवार-सी मोटी है। अरे भाई, मनुष्य जब सचाईका सामना नही कर पाता, तो वहानेकी, पर्देकी, आड लेता है।

लो, यो समझो कि रामलालने झडासिहसे १००रुपये हाथ उधार लिये कि ६ फरवरी को लौटा दूँगा। आज है ६ फरवरी। झडासिह अपने रुपये माँगने रामलालके घर आया, पर रुपयोका अभी यहाँ प्रवन्ध नही। अव सचाई यह है कि रामलाल झडासिहसे अपनी मजवूरी कहे और कुछ समय रुकनेकी प्रार्थना करे, पर इस सचाईके सामने आते उसे आती है झेप, तो झडासिहके पुकारनेपर वह कहलवा देता है—वे घरमे नही है। झडासिह लौट जाता है और यो रामलाल सचाईके सामने आनेसे बच जाता है। कहिए बहाना एक पर्दा है या नही? तो अब आई आपकी समझमे मेरी वात? सच बात यह है कि जितनी देरमे दिल्लीके चॉदनी चौकसे राजपूतानेका ऊँट गुजर आता है, उतनी देरमे आपकी समझमे बातका प्रवेश होता ह। फिर भी भाई, आप आप है और हम हमी है।

अपने मकानपर दुश्मन भी आ जाये, तो मित्र हो जाता है, यह हमारे देशका पुराना सस्कार है, पर आजकल वहुत बार यह भी होता है कि मित्र यदि अपने मकानपर आ जाय, तो वह लौटते-लौटते दुश्मन हो जाता है।"

यह कैसे ?

"कैसे इसमे क्या थी, साफ बात है। समझ लीजिए कि शर्माजी एक सार्व-जनिक कार्यकर्ता है। प्रात काल च.य पीकर घरसे निकले थे कि ६ बजेतक लौट आएँगे और आकर खाना खाएँगे, पर आर्यसमाजके वार्पिक उत्सवके कार्यमे ऐसे उलझे कि दो वज गये। वहाँसे चले, तो नेत्र-चिकित्सा-कैम्प वालोने पकड लिया और यो शामको ६ बजे घरमे घुसे। आते ही श्रीमती जीका कुछ गरम और कुछ गम्भीर भाषण सुना और तव जरा पलगपर तिरछे हुए, पर अभी पूरी तरह पैर खोले भी न थे कि वाहरसे आवाज आई—शर्माजी! उन्होने चाहा कि वे यह आवाज न सुने, पर यह इकली हो तभी तो वे इसे न सुने। पुकारनेवालेने और भी जोरसे कहा—शर्माजी, और तुरन्त दोहराया—अरे भाई शर्मा साहब है ?

सत्य बडी चीज है और इस समय सत्य यह है कि शर्मा साहव यहाँ है। इस सत्यके साथ ही यह भी सत्य है कि वे दिनभरकी सेवाओके ही कारण बहुत थके हुए है और इसे भी ससार सत्य ही मानता है कि थके हुए आद-मीको आराम करनेका, सुस्तानेका पूरा अधिकार है।

इतने सत्योको इकट्ठाकर शर्माजीने पुकारनेवालेसे कहलाया कि मै कल मिलूँगा आपसे, इस समय बहुत थका हुआ हूँ।

जानते है आप, क्या होगा इसके दूसरे दिन। एक जगह आप सुनेगे—अरे भाई, अब तो शर्मा साहब बहुत बडे आदमी हो गये है। दूसरी जगह सुनाई देगा—अगरेज़ तो चले गये हिन्दुस्तानसे, पर शर्मा साहब अब भी अगरेजो-की तरह समय निश्चित करके तब मुलाकात करते है। तीसरी जगह यह भी कि क्या ठीक है भैया, शर्मा साहवके दिमागका, अपनेको पूरा लाट साहब समझते है।

कहिए, घर आनेपर दोस्त ही दुश्मन हो गये या नही ? इस बीमारीसे

बचनेका एक ही उपाय है कि बाहरसे किसीने पुकारा कि शर्माजी है और तुरन्त श्रीमतीजीने उत्तर दिया कि जी, वे घरमे नही है। बस आनेवाले पडितजी हो या बाबूजी, शेखजी हो या सरदारजी, खरामा-खरामा लौटते नजर आएँगे और न कही नाराजीका नाम, न लन्तरानियोके लच्छे। यह बहाना भी हकीम लुकमानका ही पूरा नुस्खा है।

हाँ, नुस्खा तो यह अचूक है, पर इसमे जरा-सी सावधानीकी आवश्यकता है। मेरे पिता एक वैद्य थे। उनके पास एक रोगी आया, जिसकी आँखे दुख रही थी और दातोमे दर्द था। उन्होने उसे दोनोकी दवाएँ दे दी, पर उस मूर्खने आँखोकी दवा तो दाँतोमे मल ली और दाँतोकी दवा आँखोमे डाल ली। उसे जो मजा इससे आया होगा, उसे आप खुद ही समझ सकते है।

यही हालत इस लुकमानी नुस्खेकी है। इसमे जहाँ ज़रा-सी चूक हुई कि बस गुड-गोबर एक हुआ। बाहरसे किसीने आवाज दी कि पिताजीने अपने छोटे लडकेको धीरेसे समझाया—बेटा, कह दे कि पिताजी घरमे नही है। सरल बालक झूठ बोलना क्या जाने। वह जोरसे कहता है, मेरे पिताजी कहते है कि वे घरमे नही है। अब बच्चेपर पड रही है घुट-कियाँ, जिससे वह चले है उसके आँसू और घर भर गया है उसके चीत्कारसे। बाहर खडे सज्जन इनके बारेमे जो सोच रहे है, वह हम भी समझ सकते है और आप भी। कहिए जरा-सी चूकने अचूक नुस्खेको बेकार कर दिया या नही ?

एक बार एक शायर साहब अपने किसी शायर दोस्तसे मिलने गये। मकानके सामने खडे होकर लगाई आवाज और लगे इन्तजारमे ऊपरको देखने—बेगम साहबाने दीवारके ऊपरसे जो नीचेको झाँका, तो शायर साहबने उन्हे ताक लिया। बेगम साहबा पीछे हट गई और कहा—जी वे घरमे नही है !

शायर साहबने कहा—अच्छा हम फिर आवेगे, पर चलते-चलते उनके दिलमे आया कि इतनी ऊँची है यह दीवार और उससे इतनी और ऊँची है हमारे दोस्तकी बीबी, तो इसका मतलब यह हुआ कि बेगम साहबा करीब ७ फीट लम्बी है। शायर साहबको जो आई, फुरैरी तो एक कोयला उठाया और दीवारपर लिख मारा—

तूले शबे फ़ुरकतसे भी दो हाथ बड़ी है।

अर्थात् वह बेचैनी की रातसे भी दो हाथ बडी है।

उनके जानेके बाद ये शायर साहब आये, तो देखा कि दीवारपर यह लाइन लिखी है। बीवीसे पूछ ताछ की तो सब माजरा समझे और सोचने लगे कि आज तो यह बडा तगड़ा झापड पड़ा। आखिर शायर थे वे भी। आई जो फुरैरी, तो उन्होने उस लाइनके नीचे एक दूसरी लाइन यो लिखी—

वो ज़ुल्फें मसल-सल जो तेरे रुख पै पड़ी हैं।

यानी बेचैनीकी रातसे भी वह ज़ुल्फ दो हाथ बड़ी है, जो तेरे चेहरेपर लहरा रही है।

शायर साहब घूमघामकर लौटे, तो देखा कि अब एक की जगह वहाँ दो लाइने है और उन्हे पढा, तो मुसकराकर रह गये। कहनेका मतलब यह कि सब बलाये भूतके सिर; यह नुसखा अचूक है कि वे घरमे नही हैं, पर इसमे जरा-सी चूकसे बचनेकी जरूरत ज़रूर है।

अच्छा आप बहुत बालकी खाल निकालते है और बड़े खोजी बनते हैं, तो मेरे एक प्रश्नका उत्तर दीजिए। प्रश्न यह है कि क्या यह सभव है कि आपके घर पर कोई आपसे ही यह कहे कि आप घर पर नही है और आपको इसका यकीन आ जाए?

मै जानता हूँ आप इसपर नही कहेगे और इस प्रश्नको ही बेसिर-

पैरका बतलाएँगे, पर मैं कहता हूँ कि यह सम्भव है और सौ फी सदी सभव है। फिर यह कोई मैं अपनी तरफसे गढकर थोडे ही कह रहा हूँ। यह तो भाई साहब, विश्व विख्यात लेखक स्वीट मार्डेनने अपनी एक पुस्तकमे लिखा है।

ओहो, इसमे शब्द-समूहोके अम्बार खडे करनेकी क्या बात, मेरी पूरी बात तो आप सुन लें। एक प्रोफेसर साहब बागमे बैठे विचारोकी किसी गुत्थीमे उलझ रहे थे। रात गहरी हो चली, तो अपने घर आये, पर रास्तेमे भी उलझे ही रहे और घर जाकर दरवाज़ा थपथपाया, तो उलझे ही उलझे। नौकरानी नई आई थी। उसने प्रोफेसर साहबको नही पहचाना और ऊपरसे कहा—साहब घरमे नही है। प्रोफेसर साहबने यह सुना और सुनकर फिर बागमे लौट आये। वहाँ पहुँचकर विचारोकी गुत्थी सुलझी, तो याद आया कि ओह हम तो अपने ही घर गये थे। अब सोचिए कि इस धरतीने भी कैसे अजीब-अजीब जीव पैदा किये हैं। नौकरानीने कहा कि साहब घरमे नही हैं और साहबने भी मान लिया कि हाँ वे घरमे नही है।"

तो, सब सकटोसे बचनेका उपाय है घरमे नही है। घर एक किला है, जिसमे कोई यो ही नही घुस सकता। आप घरमे है और कहा जा रहा है कि घरमें नही हैं, फिर किसकी ताकत है कि आपको घरमे बताए। नन्हे बच्चे यह सब देखते है और झूठ बोलना सीखते है। झूठकी पहली छाप यहीसे उनके मनपर पडती है। इसलिए यह बहाना अच्छा है, फिर भी एक राष्ट्रीय अपराध है। हमारा कर्त्तव्य है कि इसका उपयोग न करे और हमारे मित्रोका कर्त्तव्य है कि इसके उपयोगका हमे सहारा न लेना पडे।

झेंपो मत, रस लो !

[१]

श्रीमती विद्यावती कौशल मूढेपर, हम कई आदमी अपनी कुरसियो-पर और बातचीत 'कामायनी' के घेरेमे। जाने क्या हुआ कि मूढा लुढक गया और वे धम्मसे धरतीपर आ टिकी; जैसे कोई बालक सडकपर पडे पैसेको अपने दूसरे साथियोसे पहले दबोचनेको धरतीसे आ लिपटे !

आदमीकी आदत है कि दूसरेको बेवकूफ बनते देखता है, तो उसके फेफड़े और होठ खिल पडते है। शायद आदमीकी इसी आदतने नाटकोमे जोकरोको जन्म दिया है। जोकर बेवकूफ न हो, तब भी बेवकूफ बनता है और हम हँसते है।

तो वे लुढकी कि हम हँसे। आदमीकी आदत है कि जब किसीपर हँसे, तो उसकी आँखे देखना चाहती है कि जिसे हँसा गया है, वह झेंपे—खिसियाए !

हम भी हँसे, तो अनचाहते भी चाहा ही कि वे झेंपे, पर हुआ यह कि वे इकली ही हम तीन-चारसे भी ज्यादा जोरसे हँसी और अपने मूढेपर आते-आते बोली—"वाह भाई, लाला लेट गये !"

अब एक अजब बात कि उनकी हँसी हमारे कानोमे क्या गूँजी, हमारी हँसी एकदम खामोश और हम अपनेमें समाये हुए-से।

बातचीत फिर अपनी जगह ज्यो की त्यो, पर मैं सोच रहा हूँ कि हुआ क्या ? लगता है कुछ हुआ है, पर क्या हुआ है, यह नही लगता। मैं सोचता रहा और तब अचानक हाथ आया यह सूत्र—'भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमे रस लो !'

मुझे याद आ गई, अपने ही पिछले जीवनकी एक घटना। नहाकर उठा, तो वनयान मैला और मैला वनयान पहननेका मतलव हुआ मैला मन।

"प्रभा जी, साफ वनियान दो!" मैंने पत्नीसे कहा, तो मजवूरी सामने आई—"कल सोचा था, कपडे धोऊँगी, पर तवियत खराव हो गई। पहन लो अब तो इसे ही, दोपहरको दूसरा वदल लेना।" पर देह उसे अपनेमे लेनेको तैयार न हुई—"ना-ना यह नही, साफ वनियान दो!"

उन्हे सूझी मजाक—मजाककी तो बात ही है कि रईस-आजमके घरमे कुल दो बनियान और माग रहे है तीसरा। वे अपना खादी-छीटका धुला जम्फर ले आई-"लीजिए हाजिर है।"

इस मजाकमे मुझे कोई मजाक न लगा—कुरतेके नीचे जैसा वनियान वैसा जम्फर। मैने उसे गले डाला और विद्यालय चला गया, पर अभी रघुवशका पाठ आरम्भ ही किया था कि ससुरालका तार—"पहली गाड़ीसे आइए।"

पाठ वन्द और मै स्टेशनपर। स्टेशनसे गाडीमे और गाडीसे ससुरालके द्वार—श्वसुरगृहनिवास. स्वर्गतुल्यो नराणाम्—तो साक्षात् स्वर्गमे। आवभगत हुई, छोटे सालेके सम्वन्धकी वात है, यह वैठते-वैठते सुना, पर दशहरेके दिन कि सुवह ठण्डी फुरैरी, तो दोपहरको गुर्राती-सी धूप। मनमे चाह, हाथोका सहारा, दिमाग वातचीतमे, वस कुरता उतारा और खूँटीपर उसे लटका, जो फिर कुरसीपर, तो हा-हा, हू-हू और 'वाह क्या कहने' के साथ वडे साले साहवका यह रिमार्क भी कि—'वस साडीकी कसर है पण्डितजी!'

वात कुछ नही, वही जम्फरका मामला और मै झेपकी रमकमे।

सोचा कुरता पहन लूँ, पर चिडियाके उडनेपर निशाना साधनेसे लाभ, बस मैं अपने आपमे स्वस्थ और हँसतोके नेता अपने बडे साले साहबपर यह करारा वार—"जनाव, हजार आदमियोके सामने आपने अपनी बहन-का हाथ मेरे हाथोमे दिया था। फिर मैंने उनका जम्फर एक दिनके लिए ले लिया, तो आप पुलिसमे रपट क्यो लिखा रहे है !"

हँसी करवट मारते पूरबसे पच्छिमकी ओर और साले साहव अब एक ठहाकेके सामने; जैसे तोपका मुँह उन्हे देख रहा हो। बस वे लडखडाये कि यही एक और चोट—"क्यो साहब, मै उनका जम्फर छुऊँ, इसमे आपको कुछ ऐतराज है क्या ?"

ओह हो, एक और जोरदार ठहाका—दीवारोको हिलाता-सा और झेपका रुख मेरी तरफसे मुँह मोड़े उन्हे अपनेमे घेरे-घेरे !

वही बात कि भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेपो मत—उसमे रस लो। झेप दूसरी तरफ मुड जायगी और आप उससे साफ बच जाएँगे।

[३]

बात 'कामायनी' पर ही चलती रही और मैं सोचता रहा। तभी मुझे याद आ गये पण्डित कमलनाभ। वे दो बार जिला बोर्डके मेम्बर रह चुके थे। तीसरी बार वे फिर खडे हुए। इस बार मुकाबला एक धनी और प्रभावशाली आदमीके साथ था। साथ ही अपने इलाकेमे उसने बराबर कई सालसे कोशिशे की थी। इधर पण्डितजी पुराने पत्ते हो चले थे, उधर वह उगता सूरज था।

पहले ही रेलेमे पण्डित जी हारमे थे और उनका विरोधी हारोकी उम्मीदमे। मै चुनावका इन्चार्ज था, इसलिए साढे दस बजे ही मै झेप चला।

पण्डितजीसे वचते-वचाते मैंने कहा—जब १०॥ बजे ही १॥ बज रहा है, तो १॥ बजे क्या होगा ?"

चिन्ता तो उन्हे भी थी, पर निश्चिन्त हो बोले—"तुम १॥ वजेकी बात मुझपर छोड़ो और एक काम करो कि इण्टरवल होनेसे पहले जितनी मालाएँ वनवा सको, वनवा लो और छुट्टी होते ही मै ज्यो ही वाहर आऊँ कि लाउड स्पीकर मुझे पेडके नीचे मिले। मैं सीधा उसपर आऊँगा और तुम वे सब मालाएँ मुझे पहना देना।"

"क्या मतलब ?" मैंने चौककर पूछा, तो रोककर बोले—"मतलब कुछ नही, जाओ मालाएँ बनवाओ—एक रुपयेमे एक फूल मिले, तब भी मत चूकना !"

यह बजी घण्टी, हुआ इण्टरवल और वे खडे है पण्डितजी पेडके नीचे माइकपर। गला मालाओसे लदा और पण्डित जी खिले-हँसते। क्या है ? क्या हुआ ? भीड उनके चारो ओर और पण्डित जी कह रहे है—"भाइयो ! मै आज लाजसे गड़ा जा रहा हूँ। आपने मुझे पहले दो बार बोर्डका मेम्बर चुना। पिछले साल मै लापरवाह रहा, ओहदेके नशेमे डूवा रहा, आपकी खिदमतमे भी लापरवाही मैंने की और बहुतसे भाइयोके साथ गरम-सरद भी वोला। मुझे उम्मीद थी कि इस बार आप मुझे ठुकरा देगे, पर आप वडे है और वडोकी वात भी वडी होती है। आपने आज मुझे तीसरी बार फिर मेम्बर चुन दिया। आपकी मुहब्बतसे मै दबा जा रहा हूँ।

सुना था परमेश्वर दयालु होता है, तो छप्पर फाड़कर देता है। आज मैंने खुली आँखो देख लिया कि पचपरमेश्वरने मेरी भूलोको भुलाकर फिर तीसरी वार ये मालाएँ मेरे गलेमे डाली।

पचो, मै आपके सामने सिर झुकाता हूँ और कसम खाता हूँ कि अब

घरका अपना कोई काम नही करूँगा और पूरा समय आपकी सेवाके ही कामोमे लगाऊँगा।"

पण्डितजीने जोरसे कहा—बोल, पच परमेश्वरकी जय, पच परमेश्वरकी जय, पच परमेश्वरकी जय और अपने गलेसे माला उतारकर उन्होने बडे-बूढोको १-१ पहना दी।

घण्टी बजी और बस घण्टी ही बज गई। अपना तो अपना था ही, गैर भी अपना हो गया। जो वोट आया, पण्डितजीके बक्सेमे और जो वोट आया पण्डितजीके बक्सेमे। जीततेका जग साथी, हारतेका बेटा नही, कौन अपना वोट पानीमे फेकता—पण्डितजी एक हजार वोटसे जीते और विरोधीने कहा—"वसीयत करके मरूँगा लडकोके नाम कि कभी चुनाव न लडे।"

वही बात कि पण्डितजी झेपे नही और हारको जीतमे बदल ले गये!

[४]

■ क्यो जी, रपट पड़नेपर आदमी झेपता क्यो है?

■ इसलिए कि दूसरोकी नजरोमे अपनी हीनता, कमी, लघुता और हारका भाव उसके मानसको घेर लेता है।

■ और क्यो जी, किसीके रपट पडनेपर हम हँसते क्यो है?

■ इसलिए कि उसकी असफलतामे अपनी सफलता, उसकी कुरूपतामे अपना सौदर्य और उसकी हारमे अपनी जीतका उल्लास हमारे मानसपर छा जाता है।

■ और बस यही वह प्रश्न, जो इस सारे मामलेको उधेडकर हमारे सामने रख देगा—जब कोई रपट पडनेपर भी नही झेपता, तो हमारी उठ-उभरती हँसीका फव्वारा आप ही आप क्यों दुबक जाता है?

■ इसलिए कि दूसरोको हमपर हँसनेका मौका तब आता है, जब हम

अपनी आँखोमे हलके हो जाएँ। सुधारक और अग्रगामी ससारमे मूर्खो द्वारा सदा लाछित हुए है, पर वे अपनी आँखोमे हल्के नही हुए, इसीलिए यह लाछना उन्हे लाछित नही कर पाई और एक दिन अपने प्रति उनका यह सम्मान दूसरोके मस्तकोको अपने चरणोमे झुका सका।

बात अब भी 'कामायनी' पर चल रही थी और मै सोच रहा था।

पापके चार हथियार !

आज वर्नार्ड शॉका एक पैराग्राफ पढा है। वह उनके अपने ही सम्बन्धमे है, "मै खुली सडकपर कोडे खानेसे इसलिए वच जाता हूँ कि लोग मेरी वातोंको दिल्लगी समझकर उडा देते है। वात यूँ है कि मेरे एक शब्दपर भी वे गौर करे, तो समाजका ढाँचा डगमगा उठे।"

"वे मुझे वर्दाश्त नही कर सकते, यदि मुझपर हँसे नही। मेरी मानसिक और नैतिक महत्ता लोगोके लिए असहनीय है। उन्हे उवानेवाली खूवियोका पुज लोगोके गलेके नीचे कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक वन्धु या तो कानपर उगली रख लेते है या वेवकूफीसे भरी हँसीके अम्वारके नीचे ढक देते है मेरी वात।"

शॉके शब्दोमे अहकारकी पैनी धार है, यह कहकर हम इन शब्दोकी उपेक्षा नही कर सकते, क्योकि इनमे ससारका एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य कह दिया गया है।

ससारमे पाप है, जीवनमे दोष, व्यवस्थामे न्याय है, व्यवहारमे अत्याचार और इस तरह समाज पीड़ित और पीडकके वर्गोमे बँट गया है। सुधारक आते है, जीवनकी इन विडम्वनाओपर घनघोर चोट करते है। विडम्वनाएँ टूटती-विखरती नजर आती है, पर हम देखते है कि सुधारक चले जाते है और विडम्वनाएँ अपना काम करती रहती है।

आखिर इसका रहस्य क्या है कि ससारमे इतने महान् पुरुष, सुधारक, तीर्थंकर, अवतार, सन्त और पैगम्बर आ चुके, पर यह ससार अभीतक वैसाका वैसा ही चल रहा है। इसे वे क्यो न वदल पाये? दूसरे शब्दोमे जीवनके पापो और विडम्वनाओके पास वह कौन-सी शक्ति है, जिससे वह

सुधारके इन शक्तिशाली आक्रमणोको झेल जाते हैं और टुकडे-टुकडे होकर विखर नही जाते ?

शॉने इसका उत्तर दिया है कि मुझपर हँस कर और इस रूपमे मेरी उपेक्षा करके वे मुझे सह लेते हैं। यह मुहावरेकी भाषामे सिर झुकाकर लहरको ऊपरसे उतार देना है।

शॉकी वात सच है, पर यह सचाई एकागी है। सत्य इतना ही नही है। पापके पास चार शस्त्र हैं, जिनसे वह सुधारके सत्यको जीतता या कमसे कम असफल करता है। मैंने जीवनका जो थोडा बहुत अध्ययन किया है उसके अनुसार पापके यह चार शस्त्र इस प्रकार हैं :—

उपेक्षा, निन्दा, हत्या और श्रद्धा।

सुधारक पापोंके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा वुलद करता है तो पाप और उसका प्रतिनिधि पापी समाज उसकी उपेक्षा करता है, उसकी ओर ध्यान नही देता और कभी-कभी कुछ सुन भी लेता है, तो सुनकर हँस देता है, जैसे वह किसी पागलकी वड हो, प्रलाप हो। इन क्षणोमे पापका नारा होता है—"अरे, छोडो इसे और अपना काम करो।"

सुधारक सत्य उपेक्षाकी इस रगडसे कुछ तेज़ होता जाता है, उसके स्वर अव पहलेसे कुछ पैने हो जाते हैं और कुछ ऊँचे भी।

अव समाजका पाप विवश हो जाता है कि वह सुधारककी वात सुने। वह सुनता है और उसपर निन्दाकी वौछारे फेकने लगता है। सुधारक सत्य और समाजके पापके बीच यह गालियोकी दीवार खडी करनेका प्रयत्न है। जीवनके अनुभवोकी साक्षी है कि सुधारकके जो जितना समीप है, वह उसका उतना ही वडा निन्दक होता है। यही कारण है कि सुधारकोको प्राय. क्षेत्र वदलने पडे है। मुहम्मदको मक्कासे मदीना इसीलिए तो जाना पडा था।

इन क्षणोमे पापका नारा होता है—

"अजी बेवकूफ है; लोगोको बेवकूफ बनाना चाहता है।"

सुधारकका सत्य निन्दाकी इस रगड़से और भी प्रखर हो जाता है और अब उसकी धार चोट ही नही करती, काटती भी है।

पापके लिए यह चोट अब धीरे-धीरे असह्य हो उठती है और वह बौखला उठता है। अब वह अपने सबसे तेज शस्त्रको हाथमे लेता है। यह शस्त्र है हत्या।

सुकरातके लिए यह जहरका प्याला है, तो ईसाके लिए सूली, दयानन्दके लिए यह पिसा काँच है, तो गाधीके लिए गोली।

इन क्षणोमे पापका नारा होता है—"ओह, मै तुम्हे खिलौना समझता रहा और तुम साँप निकले, पर मै साँपको जीता नही छोडूँगा—पीस डालूँगा।"

सुधारकका सत्य हत्याके इस घर्षणसे प्रचण्ड हो उठता है। शहादत उसे ऐसी धार देती है कि सुधारकके जीवनमे उसे जो शक्ति प्राप्त न थी, अब हो जाती है। सूर्योका ताप और प्रकाश उसमे समा जाता है, बिजलियोकी कडक और तूफानोका वेग भी।

पाप काँपता है और उसे लगता है कि इस वेगमे वह पिस जायगा—बिखर जायगा। तब पाप अपना ब्रह्मास्त्र तोलता है और तोलकर सत्यपर फेकता है। यह ब्रह्मास्त्र है श्रद्धा।

इन क्षणोमे पापका नारा होता है—

"सत्यकी जय, सुधारककी जय!",

अब वह सुधारककी करने लगता है चरण-वन्दना और उसके सत्यकी महिमाका गान और बखान।

सुधारक होता है करुणाशील और उसका सत्य सरल विश्वासी।

वह पहले चौंकता है, फिर, कोमल पड जाता है और तब उसका वेग पड जाता है शान्त और वातावरणमे छा जाती है सुकुमारता।

पाप अभीतक सुधारक और सत्यके जो स्तोत्र पढता जा रहा था, उनका करता है यूँ उपसहार—"सुधारक महान् है, वह लोकोत्तर है, मानव नही, वह तो भगवान् है, तीर्थंकर है, अवतार है, पैगम्बर है, सन्त है। उसकी वाणीमे जो सत्य है, वह स्वर्गका अमृत है। वह हमारा वन्दनीय है, स्मरणीय है, पर हम पृथ्वीके साधारण मनुष्योके लिए वैसा बनना असम्भव है, उस सत्यको जीवनमे उतारना हमारा आदर्श है, पर आदर्शको कब कहाँ कौन पा सकता है?"

और बस इसके बाद उसका नारा हो जाता है—"महाप्रभु सुधारक वन्दनीय है, उनका सत्य महान् है; वह लोकोत्तर है।"

यह नारा ऊँचा उठता रहता है, अधिकसे अधिक दूरतक उसकी गूँज फैलती रहती है, अधिकसे अधिक लोग उसमे शामिल होते रहते है, पर अब सबका ध्यान सुधारकमे नही, उसकी लोकोत्तरतामे समाया रहता है; सुधारकके सत्यमे नही, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अर्थो और फलितार्थोके करनेमे जुटा रहता है।

अब सुधारकके बनने लगते है, स्मारक और मन्दिर और उसके सत्यके ग्रन्थ और भाष्य।

बस यही सुधारक और उसके सत्यकी पराजय पूरी तरह हो जाती है।

पापका यह ब्रह्मास्त्र अतीतमे अजेय रहा है और वर्तमानमे भी अजेय है। कौन कह सकता है कि भविष्यमे कभी कोई इसकी अजेयताको खण्डित कर सकेगा या नही?

जब मैं पंचायतमें पहली बार सफल हुआ !

पास-पडौसकी एक दूकानका उद्घाटन था। दूकान क्या, एक पूरी कम्पनी ही है। सब लोग एकत्रित हुए। मैं भी पहुँचा, तो देखा कि ऊँची कुरसी मेरे लिए खाली है और उद्घाटन मुझे करना है। मैंने सब मनुष्यो-पर एक नज़र डाली, तो सब युवा थे। तभी आ गये एक रिटायर्ड इजी-नियर महोदय !

मित्रोको मैंने धीरेसे कहा—बाबूजीसे कराइये उद्घाटन, तो सब एक साथ मेरे ही लिए चिल्ला-से पडे—नही, नही, आप !

मै कुरसीके पास गया और कहा—हमारी सभ्यताका मूलमन्त्र है मर्यादा। इस मर्यादामे युवकोका अधिकार है सेवा और वृद्धोका आशीर्वाद। प्रसन्नता है कि हमारे बीचमे एक वृद्धजन है। सबकी ओरसे मै उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस शुभ कार्यका उद्घाटन करे और आशीर्वाद दे। अपने युवा साथियोसे मै प्रार्थना करता हूँ कि वे उस आशीर्वादको नम्रताके साथ सिर-आँखो ग्रहण करे।

मैंने देखा कि सारा वातावरण एक सात्त्विक आह्लादसे भर गया। बाबूजीने उद्घाटन किया, आशीर्वाद दिया और कार्य समाप्त हुआ, तो चलते समय मुझे अपनेसे लिपटा लिया—मेरे लिए यह बडी चीज थी।

श्रीराम शर्मा 'प्रेम' साथ थे। रास्तेमे बोले—"आज मैंने आपसे कुछ सीखा।" मैंने पूछा—क्या, तो बोले—"यह कि मनुष्य पद-प्रतिष्ठा और दूसरी ऐसी ही चीज़ोके पीछे दौड़कर सफलताके स्वप्न देखता है, पर वास्तवमे सफलता इनसे मुँह मोड़कर चलनेमे है। अक्सर यह होता

है कि हम पानेमे खोते है और खोनेमे पाते है, पर कुछ ऐसा भ्रमजाल चारो ओर छाया है कि हम इस सचाईको पकड नही पाते । आज आप उस कुरसीपर स्वय बैठकर उद्घाटन करते और उपस्थित मनुष्योके हृदयोमे ५० डिग्रीका मान पाते, तो अब आप उस पर किसी दूसरेको बैठाकर सच कहता हूँ, १०० प्रतिशत मान पा गये।"

मैंने कहा—"तुम्हारा दृष्टिकोण ठीक है, मै बरसो पहले ही यह बात समझकर गाँठ बाँध चुका हूँ, पर आज तो मैंने किसी दूसरे ही कारण या दृष्टिकोणसे ऐसा किया है।"

उत्सुक हो श्रीराम भाईने पूछा—"वह भी समझाइये।" मैंने कहा—समाजमे वृद्ध भी है और युवक भी। दोनोकी मनोवृत्तियोमे अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन युगमे जो आश्रम-व्यवस्था थी, वह इसका सर्वोत्तम इलाज था। युवक पुत्रने जहाँ घर सम्भाला कि वृद्ध जी वाणप्रस्थी हुए और जहाँ पुत्र पूर्ण प्रबन्धक हुआ कि वे सन्यास लेकर वनकी राह लगे। आज दोनो साथ है और इसीलिए हर एक घरमे घोर सघर्ष है और इस सघर्षका उपाय है—सम्मिलित परिवारकी समाप्ति। मै सम्मिलित परिवारके घोर विरुद्ध हूँ, पर सम्मिलित-परिवार सस्थाको समाप्त करके भी यह प्रश्न पूरा नही सुलझता, क्योकि फिर भी घरमे न सही समाजमे तो दोनो रहेगे ही—सघर्ष घरोसे निकलकर समाजके आगनमे खुल-खेलेगा। खेल ही रहा है आज।"

"फिर उपाय क्या है?" श्रीराम भाईने पूछा।

मैंने कहा—"उपाय है दोनोकी मनोवृत्तियोका अध्ययन कर दोनोके मध्य मर्यादाकी रेखा खीचना। वृद्धमे अनुभव है, युवकमे साहस। पहला सोचता है—इसे अभी क्या पता ससारका और दूसरा सोचता है—मै जो चाहूँ कर सकता हूँ। दोनो ही अपनी ओर देखते है, दूसरेकी ओर नही।

अपने अनुभवोकी छायामे वृद्ध चाहता है कि युवक उसकी आज्ञाका पालन करे। वृद्धत्वकी सबसे बडी आकाक्षा है झुका हुआ सिर देखना। उसकी आँखे नत शिर और विनत स्कन्ध देखना चाहती है और उसके कान सुनना चाहते है केवल एक वाक्य—जैसी आपकी आज्ञा!

आँखे खोलकर चलनेके कारण अपने सार्वजनिक जीवनके आरभमे ही मैने समझ लिया था कि नत शिर और विनत स्कन्ध देखने और 'जैसी आपकी आज्ञा' सुननेके बाद ९५ प्रतिशत वृद्धोमे शेपके प्रति कोई जिद नही रहती और इतना उन्हे न मिले, तो फिर वे किसी भी निर्णयके लिए तैयार नही होते, क्योकि उस समय प्रश्न तर्क और औचित्यके राजपथसे उतर, जिद और अहकारकी झाडियोमे उलझ जाता है।"

असलमे यह तत्त्व १९३१मे हाथ लगा। कस्बेकी एक कन्या उस समय गर्भवती थी, जब उसका विवाह हुआ; इसलिए द्विरागमन होनेसे पहले ही उसके पुत्री हुई। बात खुल गई और लडकेवालोने द्विरागमन करनेसे इकार कर दिया। एक दिन मैने उस कन्याको देखा। अत्यन्त भोली, सात्त्विक और सजीदा। मै उससे मिला। वह भूलपर दुखी थी और इस बातके लिए तैयार न थी कि उसका कही और दूसरा विवाह किया जाये। मुझपर इस बातका प्रभाव पडा और मैने प्रयत्न करनेका निश्चय कर लिया।

तीन महीनोके प्रयत्नोसे लडकेवाले उस कन्याको लेनेके लिए तैयार हो गये, पर शर्त यह कि मेरे नगरके लोग—ब्राह्मण पचायत—सार्वजनिक रूपमे, उन्हे यह आदेश दे कि वे इसे ग्रहण करे। शर्त कठिन थी, पर उचित। मैने उद्योग आरभ किया, ५ वृद्ध-पचोको मनाना कठिन था और शेष लोगोसे पचायतमे हाथ उठवाना सरल, इसलिए मैने अलग-अलग पचोसे मिलना आरम्भ किया।

मैने यह भूमिका तैयार की कि बातचीत इससे ही आरभ करूँगा—

अब मैं पचायतमे पहली बार सफल हुआ !

"लडकी वड़ी गऊ है, जरा-सी भूलमे मारी गई। आप समाजकी नस-नसको पहचानते है, सारी उमर बुरा जीवन बिताएगी—ये इतनी वेश्याएँ यो ही तो बढी है। आप आज्ञा दे, तो इसे इसके घर पहुँचा दे, पर यह आपकी पूरी शक्ति लगाये बिना सभव नही। बात यह है कि आप तो युगको पहचानते है, पर ज्यादातर लोग अभी अन्धेरेमे ही पडे है। हाँ, आपका इतना प्रभाव है कि आप पचायतमे बोल पडे, तो फिर कोई साँस नही ले सकता। यह गऊ अपने खूँटेसे बन्ध जायगी। एक बात है कि यह सारे समाजका मामला है। हम लोग तो अभी बालक है, ठीक समझते नही। आपका अनुभव विशाल है। आप आज्ञा दे, तो बात चलाई जाय, नही तो यही खत्म !"

बातचीत चलाई गई और पचायतमे प्रस्ताव इतने जोरोसे पास हुआ कि सबके लिए आश्चर्य-जनक ! तबसे मैने सीखा कि वृद्धोका यदि हम मान रक्खे, तो वे हमे कर्मकी स्वतन्त्रता दे देते है। वृद्धोके अहकारपर कभी आक्रमण मत करो, यह समाज-सुधारका पहला मन्त्र मैने याद कर लिया और फिर तो वृद्धोका मान मेरा स्वभाव ही हो गया। अब तो मुझे बडोके सामने, उनका आदेश पाकर भी ऊपर बैठते सकोच होता है। मेरे लिए अब यह कोई टैक्ट नही, सस्कार हो गया है और मै तो चाहता हूँ कि हरेक युवकमे यह सस्कार हो।

मैं पशुओं में हूँ,
पशु जैसा ही हूँ,
पर पशु नहीं हूँ!

जिज्ञासा

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित साहित्य-सस्कृति-सगमका उद्घाटन दिल्लीके लाल किलेमे महामहिम राष्ट्रपति-द्वारा हो चुका, तो प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू सस्कृतिपर बोलनेको माइक पर आये।

उनके भाषणका पहला वाक्य लगभग यह था—"आप जानते हैं कि मुझे तो सस्कृति-कलचरके मामलोमे बहुत दिलचस्पी है, पर मुसीबत तो यह है कि इस मसलेपर मै ज्यो-ज्यो गौर करता हूँ, आलिमो-विद्वानोसे मिलता हूँ या उनकी किताबे पढता हूँ, उलझता जाता हूँ।"

नेहरूका यह वाक्य सुनकर मै अपनेमे ऐसा उलझ गया कि मुझे नही मालूम फिर आगे उन्होने क्या कहा। सहसा मुझे याद आ गई अपने ही जीवनकी एक घटना। मेरे नगरका विशाल तालाव है देवीकुण्ड। उसमे तैरते-डुबकियाँ लेते मै पला-पनपा, पर उस दिन तैरते-तैरते कमल-वनमे जा घुसा, तो लगा कि अब लौटना असभव है।

हाथो और पैरोमे कमलकी नाले इस तरह लिपटी कि एकसे छूटूँ, तो दोमे उलझूँ और दोसे छूटूँ, तो चारमे और बस छूटने-उलझनेकी कशम-कशमे हालत यह हो गई कि मकडीके मायाजालमे फँसी मक्खीसे मै अपनी

उपमा दे सकूँ। अपने प्रिय नेहरूकी उलझन मुझपर कुछ इस तरह छा गई कि लगा मैं इस समय भी उसी कमल-वनमे उलझा हुआ हूँ।

नेहरूके बाद आसफअली आये और उन्होने विनयको ही सस्कृति कहा, तो काका कालेलकरने सस्कृतिके नामपर शुद्धि, समृद्धि, सामर्थ्य और समाधानकी चर्चा की और इस तरह दो दिनोतक वर्चस्वी विद्वानोके भाषण सुनकर सचमुच स्वय मेरी भी हालत नेहरू जैसी ही हो गई कि कहूँ—पर मुसीबत तो यह है कि मैं इस मसलेपर ज्यो-ज्यो गौर करता हूँ, आलिमो-विद्वानोसे मिलता हूँ या उनकी बाते सुनता हूँ, उलझता जाता हूँ।

सोचा—आखिर यह सस्कृति है क्या कि जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नही रहता, पर मानवकी अनिवार्यता होकर भी वह ऐसा गूढ तत्त्व कि उसकी आँख-पूँछ तो हरेक देखता है, पर उसकी पूर्णताके दर्शन—उसका स्पष्ट ज्ञान–किसीको भी सुलभ नही ?

अजीब उलझन है और उलझनका तकाजा है कि उसे सुलझाया जाय, पर यह सुलझे कैसे ? उलझनको सुलझानेका मेरा अपना तरीका यह है कि जब सुलझाते-सुलझाते बुद्धि उलझने लगे, तो मैं उसे अपने अन्तर्यामीको सौंपकर सो जाता हूँ। बस सस्कृतिकी उलझन भी मैंने अपने अन्तर्यामीको सौंपी और निश्चिन्त हो गया।

कोई १४ महीने बाद देवप्रयागके पर्वतोकी गोदमे अलखनन्दा और गगाके सगमपर बैठे-बैठे मुझे अन्तर्यामीके बोल सुनाई पडे। नम्र हो, मैंने उन्हे भाषामे बाँध लिया।

स्वरूप

वे बोल कुछ इस तरह थे—मनुष्य जाने कब जंगलोमें जन्मा और पनपा-पला। जगलकी उस जन्मभूमिमे मनुष्यके साथी थे जगली जान-

वर—शेर, चीते, हाथी, भालू, भेडिये और अजगर। वह उन्हीकी तरह शिकार करता-खाता, उन्हीकी तरह लडता-मरता। उन्हीकी तरह शरीर-की दूसरी माँगे पूरी करता, उन्हीकी तरह रहता-सहता और जैसे वे थे, वैसा वह था—उन्हीमे एक!

यो ही युग बीत गये।

वह जगलमे जगली जानवरोकी तरह, जगली जानवरोके साथ, जीता-मरता रहा। पजे ही उसकी शक्ति, इच्छा ही मार्ग-दृष्टि और यो वह निर्द्वन्द, अल्हड और मस्त—दो पैरोका एक चौपाया!

जाने कब, कैसे, और क्यो उसने दूसरे जानवरोकी ओर देखा और फिर अपनी ओर। जाने कबतक, कितने युगोतक वह यों ही कभी उन्हे और कभी अपनेको देखता रहा।

देखते-देखते वह कुछ सोचने लगा। जाने कितने युगोतक वह क्या-क्या सोचता रहा और तब उसके अन्तरमे एक पुकार उठी—मैं पशुओमे हूँ, पशुओ जैसा ही हूँ, पर पशु नही हूँ।

मनुष्यके हृदयमे सहज भावसे उठी यह पुकार, बहुत-सी बातोमे पशुके समान होकर भी पशु न होनेकी, उससे भिन्न होनेकी, उससे श्रेष्ठ होनेकी, यह आत्म-चेतना ही मनुष्यकी सस्कृति है।

मनुष्यके विकासकी पृष्ठभूमि यही आत्म-चेतना, यही सस्कृति है। यह सस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणा है। इसीने उसकी जीवन-दृष्टिको विशिष्टता दी है और इसीने उसके जीवन-व्यवहारको उच्चता। इसीसे मनुष्य उठा और अपने निर्माणके पथपर चला, क्योकि अब उसे हर बातमे अपनी श्रेष्ठता अनुभव करनी थी और प्रदर्शित भी।

सस्कृति मनुष्यके जीवनका शाश्वत सत्य है—यही मनुष्य और पशुके बीचकी विभाजक रेखा है।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अपने अन्तर्यामीके ये बोल सुनकर मैंने सोचा—सस्कृतिमे उलझन कहाँ है ? कही भी तो नही !

साक्षात्कार

सस्कृतिका स्वरूप अब मेरे सामने था, पर उस दिन मुझे अचानक सस्कृतिका साक्षात्कार ही हो गया, जैसे योगीको ब्रह्म-ज्ञानके बाद ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाये।

यह मेरे जीवनका एक चमत्कार था !

और यह भी एक चमत्कार ही था, कि जीवनका यह चमत्कार एक रातको सिनेमा देखते समय हुआ ! !

तस्वीर थी प्यारकी जीत। कहानी यो थी कि स्त्री-पुरुषोके दो जोडे थे—एक सज्जन और एक दुर्जन। सज्जन जोडा जीवनमे एक होना चाहता था, पर दुर्जन जोडा इसमे बाधक था। सज्जन जोडा यदि एक हो जाय, तो उसे एक बडी सम्पत्ति मिलनेवाली थी, पर दुर्जन जोडा इस सम्पत्तिको स्वय हडपना चाहता था।

कहानीका प्रवाह सज्जनता और दुर्जनताके सघन सनसनीपूर्ण घात-प्रतिघातसे भरपूर था। सिनेमा हाल अन्धकारसे भरा था। मैं जरा बादमे आया था और मुझे पता न था कि मेरे आस-पास कौन बैठे है। कहानी बल खाती-इठलाती चल रही थी।

सज्जन जोडा मिलनेका प्रयत्न करता, सफलता निकट दिखाई देती कि वे मिले, वे मिले, वे एक हुए कि दुर्जन जोडा अपना दाव मारता और ये दोनो बहुत दूर जा पडते। चोट सहकर वे दुर्जन जोडेपर चोट करते और दुर्जन जोडा चारो खाने चित दिखाई देता।

मेरा ध्यान इस बातपर गया कि जब दुर्जनताकी विजय होने लगती

है, तो मेरे आस-पास बैठे लोगोका साँस रुकने लगता है और सज्जनता जीतती है, तो उनकी तालियोकी गूँजसे सारा हाल गडगडा उठता है।

एक ऐसी ही गडगडाहटमे मध्यान्तर हुआ और ऊपरसे प्रकाशके आते-आते सुना—"ऐसे वदमाशोको तो गोली मार देनी चाहिए।" मुडकर देखा, तो यह श्री चावलाकी आवाज थी। यह पुरुष अपना कारखाना स्वय फूँककर बीमा कम्पनीसे २० हजार रुपये उडा चुका था।

सज्जनताकी जीत पर मेरे पीछे भी बहुत तालियाँ पिटी थी। उधर देखा, तो मैं धक् रह गया। ये एक कपडेके व्यापारी थे और अपनी विधवा बुआकी हत्याकर उसका धन हडप चुके थे।

समयकी वात, मेरी दृष्टि जिनपर भी उस समय टिकी, वे अधिकतर इसी श्रेणीके पुरुष थे।

अचानक मेरे मनमे प्रश्न उठा—ये लोग दुर्जन जोडेकी श्रेणीमे है, फिर यह क्या वात है कि ये तालियाँ बजा रहे है सज्जन जोडेकी जीतपर? साफ शब्दोमे, इनकी सहानुभूति तो दुर्जन जोडेके साथ होनी चाहिए।

मै अपने प्रश्नसे बेचैन था और कहानी फिर उसी घात-प्रतिघातमे चल रही थी। अन्तमे दुर्जनता बुरी तरह हारी और सज्जनता पूरी तरह जीती, तो हॉल तालियोसे हिल-हिल उठा। मै हॉलसे बाहर निकल तारोकी छाँहमे आया और पार्कके लानपर जा बैठा—मेरा प्रश्न भीतर ही भीतर मुझे उधेड रहा था।

सहसा मेरे अन्तर्यामीके वोल मुझे फिर सुनाई पडे—मनुष्य युग-युगोतक जगलमे रहा है, पशुओमे रहा है, पशुओकी तरह रहा है। उस कालकी आदतें, प्रवृत्तियाँ आज भी उसके साथ हैं। ये प्रवृत्तियाँ उसे पशुताकी ओर बहा ले जाती है, वह पशुताके कार्य करनेपर उतारू हो जाता है, पशुताके कार्य करता है, पर उसके भीतर अपनेको पशुसे भिन्न वतलानेवाली,

अपनेको पशुसे श्रेष्ठ समझनेवाली, एक आत्म-चेतना है और वह उसे सदा पशुतासे रोकती है।

मनुष्य बुद्धिके, परिस्थितियोके, प्रलोभनके, माया-जालमे फँस भले ही आत्म-चेतनाकी उस रोकको न माने, लाख पशुता करे, वह चेतना अपना काम करती रहती है। तभी तो बुरे होकर भी प्रशसा हम भलाईकी ही करते है, दुष्ट होकर भी विजय हम सज्जनताकी ही चाहते है और इस प्रकार हमारे ऊपर पशुताका लाख अन्धेरा छा जाय, हमारे अन्तरमे देवत्वका प्रकाश ही रहता है। यही सस्कृतिका दीपक है। इसी दीपकके प्रकाशकी वाणी है— **नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**—मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ भी नही है।

मुझे लगा कि मेरे बाहर, भीतर, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, चारो ओर दीपक ही दीपक जल रहे है और तब पार्ककी उस हरी दूबपर खुले आकाशके नीचे मैंने अपनेसे कहा—यही सस्कृतिका साक्षात्कार है।

वंशवृत्त

हाँ, तो जगलमे, जगली जानवरोके साथ, जगली जानवरोकी तरह रहते मनुष्यके अन्तरमे चेतना जागी कि मै पशुओमे हूँ, पशुओ जैसा ही हूँ, पर पशु नही हूँ, यानी उनसे भिन्न हूँ, उनसे श्रेष्ठ हूँ ।

यह हुआ सस्कृतिका जन्म ।

इस चेतनाके जन्मसे मनुष्य पर जो पहला प्रभाव पडा, वह था यह कि अब उसे पशु और मनुष्यमे भिन्नता अनुभव होने लगी। भिन्नताके इस बोधने उसकी मनोवृत्तिमे जो गहरा परिवर्त्तन किया, वह यह था कि मनुष्य उसे अब पहलेसे अधिक अपना दीखने लगा।

इसका यह फल अनिवार्य ही था कि मनुष्यको अब मनुष्यके साथ

पशुसे भिन्न व्यवहार करनेकी, अच्छा व्यवहार करनेकी इच्छा-प्रवृत्ति हो। धीरे-धीरे इस इच्छाने जिस व्यवहार-पद्धतिको जन्म दिया, आगे चलकर उसीका नाम पड़ा सभ्यता। **सभायां साधुः सभ्यः**—सभामे, चार आदमियोमे बैठकर जो आदमी भला लगे, जिसका व्यवहार अच्छा हो, वही सभ्य कहा-माना जाने लगा।

सभ्यता; मनुष्य और मनुष्यके बीच व्यवहारकी एक पद्धति, जिसकी पृष्ठभूमि है सहयोगकी भावना। इस भावनाने छोटे-छोटे सघोके रूपमे समाजकी, सामूहिक जीवनकी रचना की, जिसकी पृष्ठभूमि है पशुओके भयसे सुरक्षाका आश्वासन।

तो अब मनुष्यके लिए अपना ही सुख-दु ख अपना सुख-दु ख न रहा, अपनोका सुख-दु ख भी अपना सुख-दुःख हो गया—भले ही ये अपने १०-२० हो या ४०-५०।

ये अपने मिलकर बैठते, बातमे बात निकलती। इन बातोमे जिन अजेय जिज्ञासाओने जन्म लिया, उनमे मुख्य थी प्रकृतिकी चमत्कार भरी व्यवस्था और मृत्यु।

सूर्य कैसे समयपर निकलता है ? तारे क्या है ? बादलोमे पानी कहाँसे आता है ? फूल कैसे खिलते है ? चाँद कैसे घटता-बढता है और पूर्ण होता है ? ऋतुएँ कैसे बदलती है ?

ये प्रश्न आये, तो यह प्रश्न आयगा ही कि वह कौन है, जो यह सब करता है और दिखाई नही देता।

साथ ही यह भी कि यह मृत्यु क्या है ? पहले मनुष्य अपनेमे जीता था और कही भी मर जाता था पर अब वह अपनोमे जीने लगा, तो अपनोमे मरने लगा। अपनेके मरनेका दु ख होता ही है, उसका अभाव खटकेगा

ही, तो प्रश्न पैना हो आया कि वह क्या था, जिसके न रहनेसे आदमी मर गया? और मरकर वह कहाँ गया?

इन जिज्ञासाओंने मनुष्यमे एक अप्रत्यक्षके प्रति आस्था उत्पन्न की और इस आस्थाने मनुष्यमे जिन दो नई भावनाओंको जन्म दिया, उनमे एकका नाम पडा धर्म और दूसरीका दर्शन।

धर्म बाहर खोजता रहा, दर्शन भीतर। धर्मकी खोज मनुष्यको अपना जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है ईश्वर और दर्शनकी खोज मनुष्यको जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है आत्मा। इतिहासपुरुष शकराचार्यने दोनोकी एकता प्रतिपादित की और आत्माको ही परमात्मा बताया।

बस सस्कृतिका यही वशवृक्ष है—सस्कृति माताकी पुत्री सभ्यता, सभ्यताका पुत्र समाज, समाजके जोडले पुत्र धर्म और दर्शन, धर्मका पुत्र ईश्वर और दर्शनकी पुत्री आत्मा।

मूलमंत्र

मूलमन्त्र (मोटो) सत्यका, तत्त्वका रहस्य समझनेमे सहायक होते है, तो सोचा सस्कृति और उसके वशधरोका मूलमन्त्र यदि खोजा जा सके, तो यह सुविधाजनक होगा।

खोजने पन्ने उलटते, चिन्तन करते जहाँ सतोष पाया, वह यहाँ उपस्थित है। मैं आग्रही नही हूँ कि अपने सतोपको परिपूर्णता कहूँ, मानूँ या माननेको बाध्य करूँ।

क्या सस्कृतिकी भाव-दिशा अतीतमे गाई गई इस ऋचामे समाई नही है?

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।

मेरे अन्तर्यामी, मुझे असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरताकी ओर ले चल।

असतो मा सद्गमयमे सस्कृतिकी, तमसो मा ज्योतिर्गमयमे सभ्यता-समाजकी और मृत्योर्मामृत गमयमे धर्म-दर्शनकी दिशाका पूर्ण सकेत है।

असत् है पशुता—जगलीपन—,तो सत् है मनुष्यता—मनुष्यकी सस्कारिता।

तमस्—अन्धकार–है पशु की असहायता, हिंस्रता और ज्योति है मनुष्यकी अहिसकता, सामाजिकता, सहकारिता।

मृत्यु है मरणके साथ जीवनकी समाधि और अमरता है, जीवनका शाश्वत प्रवाह, आत्माकी अमरता, चेतनता और व्यापक चैतन्य सत्ताके साथ एकीकरण।

कसौटी

सस्कृतिकी कसौटी क्या है? हम कैसे निर्णय करे कि हमारा अमुक काम सस्कृतिके अनुकूल है या नही? सस्कृति शब्दकी लोक-प्रियताने उसे आकर्षक बना दिया है और हर प्रवक्ता एव लेखक, हर सभा और सगठन अपनेको सस्कृतिका रक्षक कहना आवश्यक मानने लगा है। इसी उलझनके अन्धकारमे प्रकाशकी माँग है—सस्कृतिकी कसौटी क्या है?

सस्कृतिकी कसौटी है पशुता। उचकिए नही, सस्कृतिकी कसौटी है पशुता, पर जरा बुद्धिके साथ। जिस परिस्थितिमे पशु जो कुछ करता है, क्या हम भी वही करते है या उससे भिन्न? बस पशुसे भिन्नता ही सस्कृतिकी कसौटी है।

पशुका स्वभाव है कि जहाँ, जब, जो, जी मे आया कर लिया, पर मनुष्यका स्वभाव है जहाँ, जब, जो, जीमे आये, उसे सोचे कि यहाँ, अब,

यह करना उचित है या नही और उचित हो, तो करे, नही तो रुक जाय। सक्षेपमे बुद्धिपूर्वक सयम ही सस्कृतिकी कसौटी है।

उलझन

इस कसौटीपर अपने आचरणको कसकर उसके अनुसार चलना कठिन नही है, पर वह दलदल कहाँ है, जहाँ यह चलती गाड़ी अटककर फँस जाती है, फँस क्या बस धँस जाती है कि निकाले न निकले ?

दोमे बाते होती है, व्यवहार चलता है। जबतक दोनो एक मत है, एक दूसरेके अनुकूल है, कोई बात नही, पर जब दोनोमे मतभेद होता है, तो गरमी आती है, असहिष्णुता उमडती है, क्रोध भडकता है। जी चाहता है कि सामनेवाला हमारी बात माननेको विवश हो और न हो, तो हम उसे ताकतसे पीस दे, मिटा दे, अपनी बात उससे मनवा ले।

यहाँ पशु और मनुष्य समान है। पशुमे भी यह इच्छा सहज है और मनुष्यमे भी, पर मनुष्य बुद्धिमान है, इसलिए पशुओमे जहाँ इस इच्छाके फलस्वरूप झडप और हत्या ही होती है, मनुष्यने इसे समाजकी एक सामूहिक प्रवृत्ति बना, युद्धका रूप दे दिया है।

तो युद्ध मनुष्यकी पशुताका, सस्कृति-हीनताका सर्वोत्तम प्रदर्शन है और उलझन यह है कि सस्कृतिकी पताका थामे खडा मनुष्य इस युद्धसे कैसे बचे ? सच तो यह है कि हमारी सस्कृतिके इतिहासका सबसे बडा प्रश्न है ही यह, इतना गहन, इतना जटिल प्रश्न कि हमारे राष्ट्र-पुरुषोको इसका उत्तर देनेमे कई हजार वर्ष लग गये!!!

रामने कहा

राम और रावण प्रतिकूल परिस्थितियोमे आ खडे हुए। वही युद्धकी परिस्थितियाँ, परिणाममे युद्ध और युद्धमे एक पक्षका सर्वनाश और दूसरे

पक्षकी विजय।

रामके जीवनने क्या कहा? यही कि युद्ध पशुता है, सस्कृतिके विरुद्ध है; यदि हम न्याय-अन्याय और सत्य एव असत्यका विचार किये बिना लडे, पर यदि हमारी न्यायपूर्ण एव सत्यपूर्ण बातको भी दूसरा न माने तो हम शक्ति और साधनोकी चिन्ता किये बिना लडे, यह पशुता नही है, सस्कृतिके विरुद्ध नही है। इस दशामे यह निश्चित है कि जीत हमारी ही होगी; क्योकि सत्यमेव जयते—जीत तो सत्यकी ही होती है।

क्या वात हुई यह? यही कि **यदि विरोधी हमारी बात न माने, तो हम उससे लड़ें, उसे मिटा दें,** यह अबतकका नियम था। रामने इसमे जोडा— **पर हमारी बात न्यायसे पूर्ण हो, सत्यसे पूर्ण हो।**

रामका निर्णय अन्धकारमे प्रकाशकी पहली किरण थी—हम अन्धा-धुन्ध न लडे, सत्यके, न्यायके पक्षमे होकर ही लडे, असत्यके—अन्यायके विरुद्ध अवश्य लडे और इस विश्वासके साथ कि सत्य कभी नही हारता, हमारी जीत निश्चित है।

कृष्णने कहा

रामका निर्णय महान् था, पर उसमे एक उलझन थी कि यह निर्णय कौन करे कि मतभेदमे सत्य क्या है, न्याय क्या है? यह हो गया तर्कका विषय और तर्क है बुद्धिका मायाजाल कि सुलझाये न सुलझे। फिर हम न्यायके पक्षसे लडे या अन्यायके पक्षसे, युद्धकी असास्कृतिक—पजेसे फैसला करनेवाली पशु-प्रवृत्ति—तो हममे रही ही!

तो कृष्णके जीवनकी सबसे बडी और आकुल जिज्ञासा यही थी कि युद्ध कैसे रुके?

कौरव और पाण्डव परिस्थितियोके मायाचक्र पर चढे, दो विरोधी

मोर्चोंपर आ जमे। पाण्डवोका राज्य एक शर्तके साथ कौरवोके हाथमे आ गया। पाण्डवोने अपनी शर्त पूरी की, पर कौरव अब राज्य लौटानेसे इकार कर बैठे—सत्यसे हट गये, बेईमान हो गये।

रामके निर्णयका तकाजा है कि पाण्डव लडे, पर कृष्णका अन्तर्मन्थन आकुल है कि इस परिस्थितिमे भी युद्ध न हो, युद्धकी पशुतासे बचा जाय। वे इस बातपर भी फैसला करानेको तैयार हो गये कि पॉच पाण्डवोको पाँच गाँव दे दिये जायँ और शेष राज्य कौरवोके ही हाथमे रहे, पर दुर्योधन इसपर भी नही मानता, तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है।

तब भी कृष्ण प्रतिज्ञा करते है कि वे युद्धमे स्वय शस्त्र नही उठाएँगे और केवल सारथी रहेगे—परामर्श देगे। सचाई यह है कि पाण्डवोके पक्षमे युद्धका नेतृत्व अब उन्हीके हाथमे है और युद्धको रोकनेवाला ही युद्ध करा रहा है।

यह कृष्णकी असफलता है, पर यही कृष्णकी सफलता है कि वे युद्ध करनेकी एक नई मनोवृत्ति ससारको देते है—युद्ध सत्यके लिए हो रहा ह या असत्यके लिए, उसका करना धर्म है या अधर्म, उससे लाभ होगा या हानि, यह सब मत सोचो, इसका निर्णय तुम कर ही नही सकते; तुम तो बस फलकी, परिणामकी, चिन्ता और इच्छा दोनोसे मुक्त होकर बस लडो, निष्काम रहो। यह है एक सामाजिक विवशताको अपने व्यक्तित्वसे जीवन-कलाका रूप दे देना।

युद्धने कहा

रामने युद्धकी पशुताको एक ऊँचा आधार देकर सस्कृतिसे जोडा, तो कृष्णने युद्धकी पशुताके साथ व्यवहार करनेकी एक नई मनोवृत्ति देकर सस्कृतिसे उसका समन्वय किया, पर युद्धकी पशुता ज्यो की त्यो रही।

तब जन्मा एक क्रान्तिकारी महापुरुप—बुद्ध। उसने कहा—मनुष्यको यह शोभा नही देता कि वह पशुता करे। हिसा पशुता है और अहिसा मनुष्यता। मनुष्यकी मनुष्यताका तकाजा है कि वह पूरी तरह अहिंसक रहे।

ससारकी युद्धोसे थकी मानवताके लिए यह एक नई वाणी थी, इसका समाजपर गभीर प्रभाव पडा और इसकी पूर्णता हुई यों कि सम्राट् अशोकने सेनाओका विघटन करके धर्म-प्रचारको अपना मुख्य कार्य बना लिया।

दुर्भाग्य भारतका, दुर्भाग्य ससारका और दुर्भाग्य मानव जातिका कि बुद्धके उत्तराधिकारियोने अहिसाका दुरुपयोग किया और राष्ट्रके जीवनपर एक दयनीय निष्क्रियता छा गई, जीवनकी क्षमता क्षीण हो चली, स्वतन्त्रता खतरेमे पडी और शकराचार्यके रूपमे प्रतिक्रान्तिने जन्म ले, सफलता पाई।

सस्कृतिके इतिहासमे बुद्धका यह महादान है कि वे युद्धको खुले आम पशुता कह सके, उसका विना ननु-नचके विरोध कर सके। उनके कार्यका महत्त्व इसीसे स्पष्ट है कि जब विक्रमादित्योके बनाये महलो-किलोकी ईंट भी खोजे नही मिलती, बौद्ध-विहारोके कलश दूर-दूर आज भी दीप्तिमान है।

प्रह्लादने कहा

महान् बुद्धने युद्धके—हिसाके—अशर्त विरोधकी जो मशाल जलाई थी, वह निष्क्रियताके जिस बवण्डरसे बुझी, वह भाषामे यो था—अरे भाई, ठीक है, हम हिसा न करे, युद्ध न करे, पर हमारा शत्रु तो अहिसामे विश्वास नही करता, वह तो इसे नही मानता। तब क्या हम सिर झुकाकर बैठ जाये और शत्रुसे कहे कि आइए, पधारिए, हमारा सिर काट लीजिए? यदि हाँ, तो इस तरह विदेशी आक्रमणकारीसे हम अपने देशकी स्वतन्त्रताको कैसे बचाये और न बचाये तो क्या देशद्रोही हो जायँ???

दिग्दिगन्तमे गूँजते इस प्रश्नका उत्तर दिया—पुराण-पुरुष प्रह्लादने। प्रह्लादका पिता राजा हिरण्यकशिपु इतना नृशस कि ईश्वरके स्थानमे भी अपनी ही सत्ता स्थापित करनेको आतुर—आकुल और प्रह्लाद महान् ईश्वर-भक्त। दोनोमे सघर्ष स्वाभाविक ही था, पर पिताकी आज्ञामे हिसाकी समस्त शक्तियाँ और साधन, पर प्रह्लाद निहत्था और असहाय—एक पहाड, तो दूसरा रोडा।

प्रह्लादने कहा—मैं पिताकी शक्तिका जवाब नही दे सकता, पर उनकी शक्तिका आदेश माननेसे इकार तो कर सकता हूँ। क्रुद्ध होकर उनकी शक्ति मुझे कष्ट देगी। मैं उन कष्टोको नही रोक सकता, पर सह तो सकता हूँ। सहते-सहते मै मर जाऊँगा, पर मरनेकी सम्भावना, तो हिंसाका जवाब हिंसासे देनेमे भी है। ठीक है—मैं कष्ट सहूँगा, मिट जाऊँगा, पर झुकूँगा नही।

पुराण पुराण है। जलते लौह-खम्भसे नृसिहके रूपमे भगवान् निकले, हिरण्यकशिपुका वध हुआ, हिंसा हारी, अहिसा जीती। लोक-मानस विश्वासी है। वह नही सोचता कि हर गरम खम्भेसे भगवान् नही निकलते; वह सोचता है—हिसामे लाख शक्ति हो, अहिसा भी कोई मामूली चीज नही, उसके पीछे दैवकी शक्ति है।

लोक-मानसका यह विश्वास ही सस्कृतिके इतिहासमे प्रह्लादका दान है। यह दान और भी महान् हो उठता, यदि प्रह्लाद उसपर नये प्रयोग करते, पर मालूम होता है कि वे अपनी पहली सफलतासे ही इतने भावाविभूत हो गये कि फिर कुछ भी न कर पाये।

उनके पौत्र बलिने इधर विशेष ध्यान दिया और वह पूर्ण अहिसावादी हो चला, तो प्रह्लादने उसे उपदेश दिया —

न श्रेय सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात, पण्डितैरपवादिता ॥

वेटे, न सदा क्रोध ही कल्याणकर है, न निरन्तर क्षमा ही, इसलिए आचार्योने निरन्तर क्षमाके लिए अपवादोकी—विशेष अवसरोके लिए विशेष नियमोकी, रचना की है।

इसका क्या अर्थ ? यही कि प्रह्लाद व्यक्तिगत रूपसे अहिंसाके प्रयोगमे सफल होकर भी उसके सामूहिक प्रयोगका साहस नही कर सके। फिर भी प्रह्लादके प्रयोगने बतलाया कि अहिंसा निष्क्रियता नही है और उसके द्वारा हम हिंसासे टक्कर ले सकते है, उसे परास्त कर सकते है। वह विवशता नही है, उसके प्रयोगमे दैवी सम्भावनाएँ है, उससे चमत्कार हो सकते है, सक्षेपमे अहिंसा एक महाशक्ति है।

प्रह्लाद कभी हुए हो, न भो हुए हो, उनका यह दान जन-मानसकी अमूल्य धरोहर है।

गांधीने कहा

एक ओर हिसाकी सम्पूर्ण शक्ति और साधनोसे सम्पन्न ब्रिटिश राज्य और दूसरी ओर निहत्थी, उदास और असगठित भारतीय जनता। पहला दूसरेकी छातीपर यो सवार कि प्रार्थना सुने, न चीत्कार और दूसरा यो दवा-घुटा कि हिलनेमे भी असमर्थ।

क्या दोनोमे युद्ध सम्भव है ? किसीने हाँ नही भरी और सब दिशाओमे सन्नाटा छा गया। तब सुनाई दी गान्धीकी गम्भीर वाणी—हाँ, सम्भव है और सचमुच २७ वर्षोमे गान्धीने असम्भवको सम्भव करके दिखा दिया !

अभीतक युद्ध-शास्त्रका सिद्धान्त था—शत्रुको इतना कष्ट दो कि वह सह न सके, मिट जाये। अब यह सिद्धान्त हो गया—शत्रुको कष्ट न देकर स्वय उसके द्वारा इतना कष्ट सहो कि शत्रुका हृदय बदल जाय, वह शत्रुता छोड दे।

अभी तक युद्धका लक्ष्य था—शत्रुका नाश करना, अब उसका लक्ष्य हो गया—उसे मित्र बना लेना।

अभी तक विजयकी कसौटी थी—जो अधिक मारेगा वह जीतेगा। अब कसौटी हो गई—जो अधिक सहेगा, वह जीतेगा।

और इस प्रकार गान्धीने पशु-प्रवृत्ति युद्धको मानवीय सस्कृतिकी कसौटी—पशुसे भिन्न व्यवहार—पर खरा उतार दिया। प्रसगान्तर न हो, तो कहे—युद्ध और सस्कृतिका एकीकरण ही विश्वके इतिहासको गान्धीकी सबसे बडी देन है।

तत्त्वज्ञान

हमारी सस्कृतिका तत्त्वज्ञान क्या है ? पहले यह कि हमारी क्या ? सस्कृतिमे भेद नही है—सस्कृति हिंदूकी, मुसलमानकी, ईसाईकी, यहूदीकी नही होती, मानवकी होती है। वह पूर्वकी, पश्चिमकी, रूसकी, अमरीकाकी, फ्रासकी, भारत की भी नही होती—मनुष्यकी यह आत्मचेतना कि मैं अनेक बातोमे समानता होनेपर भी पशु नही हूँ, उससे भिन्न हूँ, श्रेष्ठ हूँ, सर्वत्र समान है, इसमे भेद क्या ?

हाँ, सस्कृति अपने वश—विकास मण्डल (सभ्यता, समाज, धर्म और दर्शन) के द्वारा जिस तत्त्वज्ञान (जीवन-कला-विचार और कर्मकी प्रक्रिया) की रचना करती है, देश-प्रदेशकी परिस्थितियोके कारण उसमे भेद सम्भव है, सहज है।

भारतमे यह तत्त्वज्ञान किस रूपमे प्रस्फुटित हुआ, उसने जन-जीवनमे क्या स्वरूप लिया, इसका अनुभव एक दिन मुझे विचित्र रूपमे हुआ।

भाई रघुवीरशरणको मरे चौथा दिन था और हम सब उसके फूल चुनने श्मशान गये थे। अस्थियाँ सचयकर एक थैलीमे भरी गईं और चिताकी

राख इकट्ठी कर, उसकी एक ढेरी बना दी गई। प्रथाके अनुसार बाँसीके वृक्षकी एक टहनी उस ढेरीपर रोप दी गई।

इसका क्या अर्थ? यह नये जीवनका प्रतीक था। भारतीय तत्त्व-ज्ञानके अनुसार मृत्यु अन्त नही, नाश नही, एक परिवर्तन है। **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**—हम इधर मरते हैं, उधर जन्मते हैं। इधरकी सध्या उधरका प्रभात है। मृत्युकी यह प्रसन्नता-पूर्ण कल्पना हमारे जीवनकी एक विभूति है। चिताकी राखपर वृक्षारोपणकर हम इसीकी घोषणा करते हैं।

देरीसे हवन-सामग्री आनेके कारण वृक्षारोपणके बाद हवन किया गया। अग्निमे सामग्री छोडनेपर वैद्य जगदीशचन्द्रजीने देखा, सामग्रीके साथ एक कीडा जल रहा है। बडी फुर्तीसे, अत्यन्त कोमलताके साथ, उन्होने अपनी अगुली जलाकर भी उसे बचा लिया।

इस क्षुद्र कीटका जीवन क्या, पर उसे बचानेकी एक भारतीयको इतनी चिन्ता है कि वह अपनी अगुली जलनेकी भी चिन्ता नही करता। जीवनकी यह महत्ता, जीवमात्रके प्रति यह आकर्षण, जीवनके प्रति यह दिलचस्पी हमारे जीवनकी दूसरी विभूति है।

सोचा—भारतीय तत्त्वज्ञान जीवनको एक खेल मानकर भी जीवनकी उपेक्षा नही करता और उसके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है कि हम पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके सघर्षमे मृत्युका भय छोडकर जूझते रहे और या तो हम अपने श्रमसे पृथ्वीको ही स्वर्ग बनाकर जीवनके आनन्दका उप-भोग करे अन्यथा ऐसा करनेके प्रयत्नमे ही अपने जीवनका उत्सर्गकर यश और आत्म-तुष्टिके स्वर्गमे अपना सिहासन स्थापित करे।

जीवनका यह कितना परिपूर्ण चित्र है—मधुर, उज्ज्वल, आशा एव आनन्दमय!

जब हम सिर्फ़ एक इकन्नी बचाते हैं

मेरठकी नौचन्दीमे एक शानदार कवि-सम्मेलन था। मै न कवि हूँ न गायक और कवि-सम्मेलनमे इन्हीकी जरूरत पडती है, तो मै एक गैर ज़रूरी चीज़ था, पर साथियोने पकड मँगाया था, तो था वहाँ— शायद प्राचीन युगके पण्डेकी तरह, शायद इस युगके गाइडकी तरह !

रातमे दरबार-कैम्पमे कवि-सम्मेलन होना था और उसके पास ही टैटमे कवि लोग खाना-पीना कर रहे थे। कायदा है कि कवि-सम्मेलन होनेसे पहले कवियोकी खूब आवभगत होती है, पर उसके बाद वे अक्सर अपने बिलके लिए सयोजकजीको खोजते फिरा करते है या अपना बिस्तर स्वय ढोये तागा स्टैडकी ओर बढते दिखाई दिया करते है।

इसी बीच आँधी उठ आई, बादल घिर गये और वह दौगडा पडा कि दरबार-कैम्पकी हालत उखडते मेले जैसी हो गई। कवि-सम्मेलन दूसरे दिनके लिए स्थगित हो गया—कोई और रास्ता ही न था; अब प्रश्न था कवियोको शहरतक पहुँचानेका।

श्री बालमुकुन्द 'अनुरागी' ने मित्रभावसे कहा—मेरे पास दो कम्बल है, इन्हे उढाकर सब साथियोको हम तांगा-स्टैडतक चले जायँगे और वहाँसे तागा पकड लेगे, पर सयोजक अपने अतिथियोको पूरा आराम देनेके पक्षमे थे, इसलिए उन्होने गर्वोक्तिके स्वरमे कहा—"नही जी, सबको मोटरमे भेजते है"—पर मोटर वहाँ कहाँ थी ?

वे बोले—"दिल्लीसे श्री .जी अपनी मोटरमे आये है, उसमे चले जायेगे सब।"

"वह मोटर नही मिल सकती !" शान्त दृढतासे अनुरागीजीने कहा, तो सयोजकजी बोले—"वाह साहब, मोटर क्यो नही मिल सकती, हमने

उनके परिवारके लिए अपने खर्चेसे टैण्ट लगवाया है और सौ इन्तजाम किये है।"

अनुरागीजी चुप रहे और सयोजकजी अपनेको कम्बल और आत्म-विश्वासमे लपेटते-मे बाहर चले गये। तभी अनुरागीजीने मुझसे कहा—"लो, सयोजकजी तो माने नही, पर अब यह फैसला होगा कि श्री.. जी धनपति है या धनपशु ?"

तभी आँधीका एक नया रेला आया और हमारा टैंट गिर-गिरूँ हुआ कि हम उधर लग गये और बात हवाके झोको चढ़ी उड गई। सयोजक-जीने आकर कहा—"वे कहते है, यात्रामे ड्राइवर थक गया है। थोडा आराम कर ले, तो अभी छोड आयेगा।" हम सब समझ गये कि उन्हे अपनी नई गाडीके खराब होनेकी चिन्ता है, पर अनुरागीजी बोले—"भाइयो, कम्बल ओढो, चलो, फैसला हो गया।"

उनके वाक्यने औरोको सुलझाया, तो मुझे उलझा दिया—जिसके पास धनका सग्रह है, वह धनपति; फिर यह धनपशु क्या है ?

मित्र-साथी परिस्थितियोका रस लेते रहे, मै सोचता रहा। उलझे रहना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, पर उलझन तो है ही कि धनपति और धनपशुके मध्यकी भेद-रेखा कहाँ है ? क्या है ?

श्री....जी धनपशु है, यह फैसला हो गया, पर वे धनपशु क्यो है ? इसलिए कि उन्होने मनुष्यकी अपेक्षा अपनी सम्पत्तिको अधिक महत्त्व दिया, तो उलझन सुलझ गई कि जो आदमी अपने सगृहीत धनको महत्त्व दे वह धनपति, पर जो उसे मनुष्यकी अपेक्षा भी महत्त्व दे, वह धनपशु, जिसके लिए ससारमे धन ही सर्वोत्तम !

मै भी बातचीतमे लग गया, पर मुझे लगा कि सत्य अभी अधूरा ही हाथ आया है।

[२]

इस घटनाके कोई १० वर्ष बाद। मै उस दिन देहरादूनसे मसूरी जा रहा था। बसमे जहाँ मै बैठा, उससे अगली जुडवा सीटपर दो सज्जन बैठे थे। एक प्रौढ, एक तरुण। आमतौरपर मेरा ध्यान साथी यात्रियोपर नही जाता, क्योकि एकान्तमे बाहर कम, भीतर ज्यादा देखना, तो यात्रामे भीतर कम, बाहर अधिक देखना मेरा स्वभाव है। फिर पहाडी यात्रामे तो आस-पास होता है सजावटके कोढसे घिरा हुआ सौन्दर्य, छछोरपनसे ठगई हुई जवानियाँ, दरिद्रतासे दलित कुछ मानवात्माएँ और बाहर विराट् प्रकृतिका वैभव, पर यात्राके आरम्भमे ही एक ऐसी बात हो गई कि मेरा ध्यान सामनेवाले प्रौढपर जा टिका।

बस चलनेको ही थी कि बादल गहरे हो आये, तो उन्होने जोरसे कहा–"क्यो ड्राइवर, ऊपर तिरपाल भी डाल दी है। हमारा रेडियो रक्खा है। पूरे १००० रुपयोका है।" उन्होने 'पूरे एक हजार' का जिस ढगसे प्रयोग किया, उसने मेरे कानोके पर्देपर एक ऐसी टकोर दी, जो बहुत देर गूंजती रहती है।

ड्राइवरने उन्हे विश्वास दिलाया कि रेडियो सुरक्षित है। ड्राइवर जरा नीचे उतरा, तो उन्होने क्लीनरको बुलाकर कहा—"अरे, हमारा एक हजार रुपयेका रेडियो ऊपर रक्खा है।" उसने भी उन्हे आश्वासन दिया। अब वे स्वय नीचे उतरे और बसके चारो ओर घूमे—आँखे ऊपर किये हुए। लौटे, तो आप ही आप यह कहते हुए—"एक हजारकी रकम है।" मैने सोचा—एक हजार रुपये रेडियोकी कीमत है या इस आदमीकी बात-चीतका नारा?

बस चली, तो वह प्रौढ उस तरुणको बताने लगा कि हम कितनी सब्जियाँ लाये है। देहरादूनसे दो सेर पालकका शाक १) रु० मे लिया

और मसूरीमे यह मिलता है १) रु० सेर, तो इस तरह एक रुपया बचा। तोरी, भिण्डी, टेण्डस, अदरक, नीम्बू, मूली; सबका हिसाब जोडा। बीच-बीचमे वह भूल गया, तो फिर जोडा। कुल मिलाकर सात रुपये बचे थे। यो हम राजपुर पहुँचे।

राजपुरसे बस चली, तो चारों ओर प्रकृतिका स्वर्ग। तभी अपनी डायरीमे कुछ लिखनेको तरुणने अपना फाउण्टेन पेन निकाला, तो उस प्रौढने कहा—"कितने रुपयेका है तुम्हारा पेन ?" वह मामूली पेन था। तब प्रौढने भीतरकी जेबसे निकालकर अपना पेन तरुणको दिखाया "यह १५० रुपयेसे ज़्यादाका है।"

फिर गर्वमे डूबकर बोला—"मैंने यह पाँच रुपयेमे लिया था। एक पहाडी लड़का इसे बार-बार खोलकर देख रहा था। मै भाँप गया कि यह अपने सेठका उडाकर लाया है। बस, मै उसे अपने साथ घर ले आया। पाँच रुपये नकद दिये और अपने लड़केका पुराना कुरता। वह सुसरा इसकी कीमत क्या जानता ? टूट जाए, तब भी ४५ रु० कम्पनी देती है इसके !"

मैंने यह सब सुना, तो अधमरा-सा हो गया। सोचा—आज हम जिसे दूसरेके घर चोरी करनेकी लत डालते हैं, वह कल हमारा नौकर भी हो सकता है और तब वह हमारे ही घर हाथ साफ करेगा। सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे हम कितने दिवालिया हो गये हैं ?

पेन जेबमे डालते समय एक कागज उनके हाथको लगा। निकाला, तो कहीसे आया हुआ लिफाफा। मै देख रहा हूँ कि वे उस लिफाफेको बहुत गौरसे देख रहे हैं। यो क्या देख रहा है यह जानवर ? मेरे भीतर यह प्रतिक्रिया फूटी कि उसने तरुणकी तरफ लिफाफा बढाकर पूछा—"देखना इसके टिकटपर मोहरका निशान तो नही पडा—यह तो दूसरे लिफाफेपर

लग सकता है ?" और तब बहुत खुश होकर बोला—"वाह-वाह, लिफाफा भी आया और टिकट भी साथ लाया, यहाँ भी दो आने बचे।"

सोचा—आजकल हर चीज महँगी है, सिर्फ ईमान सस्ता है और तब याद आई महाकवि कालिदासके रघुवशकी यह बात कि ऋषि लोगोको खेतोपर सिला चुगनेसे जो अन्न प्राप्त होता था, उसका छटा भाग राज्य-करके रूपमे वे अलग रख देते थे, पर उसे लेने राजाका कोई आदमी आता न था, तो वे उसे अपने उपयोगमे न लेकर वापी-तडागके तटोपर बो देते थे—**'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः'**।

एक दिन हमारी ईमानदारी, देशकी सामूहिक व्यवस्थामे अपना भाग अर्पित करनेकी हमारी निष्ठा इस रूपमे थी, पर आज एक खाता-पीता आदमी अपने स्वतन्त्र देशकी सरकारको दो आनेका भी धोखा देनेको तैयार है !

बहुत ही सुन्दर प्रदेशसे होकर बस गुज़र रही थी। मै उस सौंदर्यमे उलझ चला, पर तभी याद आ गई मुझे मेरठवाली उस घटनाकी और मैने सोचा कि उस दिन धनपशुके स्वरूपका सिर्फ ज्ञान हुआ था, यह उसका साक्षात्कार है।

अब यह सूत्र मेरे हाथोमे आ गया था—जो जीवित मनुष्यकी अपेक्षा अपने जड धनको अधिक महत्त्व दे वही नही, जो सत्यकी अपेक्षा, न्यायकी अपेक्षा धनको महत्त्व दे, वह भी धनपशु है।

[३]

उस दिन कलकत्तेसे चला, तो रेलके डब्बेमे नीचेकी एक बर्थपर मै था। सामनेकी बर्थपर एक तरुणी, ऊपरकी बर्थपर उनके पति और मेरे ऊपरकी बर्थ खाली।

सोनेका अभी समय नही था। वे दोनो नीचेकी बर्थपर बैठे बाते करने

लगे और मैं बाहरका दृश्य देखने लगा। रात अंधेरी थी, पर मीलोतक कलकत्तेका वैभव रेलके साथ दौडता है, जैसे विज्ञानका दैत्य विज्ञानकी प्रदर्शिनीके बीचसे फुँकारता जा रहा हो।

अचानक किसीने मुझे छुआ-सा, तो मैंने भीतर झाँका। तरुण महाशय मेरी बर्थके नीचे कुछ देख रहे थे। क्या है भैया? मैंने पूछा, तो बोले—इन्होने अभी-अभी उगलीसे अगूठी निकाली, तो वह चटककर जाने कहाँ जा गिरी?

मैंने तकियेके नीचेसे टार्च निकालकर चमकाया और कोनेमे छुपकर-रूठकर बैठी-सी उनकी अगूठी मिल गई। मैं लेट गया—अब वे दोनो मेरे सामने थे।

अगूठीको तर्जनीमे चक्रकी तरह घुमाते हुए तरुणीने कहा—"मौसीकी हालत तो थी नही कि वह प्रेजेण्ट (उपहार) दे, पर अगूठी उसने दे ही दी। कितने रुपयेकी होगी यह?"

"पुखराज तो इसका अच्छा है, काफी दामकी होगी।" तरुणने कहा और वे दोनों इतनी नही-इतनीके ऊहापोहमे उलझ गये, पर तरुणीको सन्तोष न हुआ। तब अगूठीको अनामिकामे पहनते हुए उसने फैसला दिया—"इलाहाबाद पहुँचते ही इसे जौहरीको दिखाऊँगी।"

बिजली बुझा दी गई, डब्बेमे अन्धेरा हो गया, पर मेरे भीतर जिज्ञासा-का यह जुगनू चमकता रहा—मौसीकी ममता और अगूठीका सौन्दर्य इन लोगोको प्रभावित नही कर पाया और बस इनकी दिलचस्पी सिर्फ इस बातमे है कि इसका मूल्य क्या है; यह कैसी मनोवृत्ति है?

यह जुगनू भभककर लैम्प हो गया, जब मैंने सोचा—निश्चय ही ये दोनो पक्के धनपशु है।

[४]

उस दिन देहातोके बीचसे होती मोटर बस जा रही थी और मैं सोच रहा था कि भारतके विशाल क्षेत्रको, उसके हर ग्राम और कस्बेको रेलकी पटरीसे जोड देना, तो शताब्दीके बाद भी असभव ही रहेगा, पर हम उसे पक्की सड़कसे अवश्य जोड सकते हैं और इस तरह हमारे देशमे मोटर व्यवसाय और व्यापार, दोनोका ही भविष्य उज्ज्वल है।

तभी एक अड्डेपर मोटर ठहरी। पासका गाँव तो छोटा-सा ही है, पर दो सडकोका यह जकशन है, इसीलिए अड्डा बन गया है। मेरी ही सीटपर एक सरदारजी अपना उर्दू दैनिक पढनेके बाद अपनी मोटी रानके नीचे दाबे बैठे थे।

तभी एक देहाती किशोरने बसमे झाँककर देखा और विनयके स्वरमे कहा—"सरदार जी, हमारे गाँवमे लाइब्रेरी है। उसके लिए अपना अख़बार दे दो।"

"आज हम दे दें, तो कल कहाँसे आयगा तुम्हारी लाइब्रेरीमे अखबार ?" सरदारजीने पूछा तो किशोरने कहा—"कल किसी और भाईसे ले लेगे। हम रोज़ इसी तरह कर लेते है सरदारजी!"

उचित प्रश्नका उचित उत्तर था, पर इस औचित्यमे औद्धत्यका यह दानव सहसा कूद पडा—"अख़बार लेना है, तो दो आने दो।" लडकेने हाथ जोडे, वह गिडगिडाया, पर सरदारजी अटल रहे। बस चली, तो आप ही आप बोले—हम तो 'बपारी' हैं, यो माल मुफ्त बाँटने लगे, तो हमारा दिवाला खिसक जाये।"

सुनकर सोचा—'बपारी' है या नही यह सरदार धनपशु अवश्य है।

[५]

एक दिन बूढा चाटवाला आया, तो घर-पडौसके बच्चे मुझे लिपट

गये—"हम तो चाट लेगे, हम तो लेगे।" सबको चाट दिला दी। वे चाट खाते रहे, मै एक चटपटी गोष्ठीका आनन्द लेता रहा, पर दूसरे दिन अधिकाश बच्चोकी तबियत खराब थी।

फिर एक दिन बूढा आया और मैने उसे धीरे-धीरे चरखीपर चढाया, तो पता चला कि बरसातके इस बुसाऊ मौसममे पहले दिन जो चाट बिकनेसे बच गई थी, उसे भी उसने दूसरे दिनकी चाटमे मिला दिया था।

मैने सोचा—यह गरीब चाटवाला भी, जो दूसरोके स्वास्थ्यसे अपने कुछ पैसोको अधिक महत्त्व देता है, पूरा धनपशु है।

[६]

चाटवाला चला गया, तो मै पिछले १५ वर्षोमे बिखरे धनपशुताके इन सूत्रोको मिलाकर एक सीधा-सच्चा, पर समर्थ सूत्र बनाने लगा। धागे मिलते रहे, टूटते रहे, जुडते रहे और तब यह सूत्र हाथ लगा—

'जीवनमे हम क्या करे, क्या न करे? इस प्रश्नके समाधान और निर्णयका मापक तत्त्व है सत्य, न्याय, औचित्य और सौन्दर्य—हमारा हर निर्णय सत्यसे, न्यायसे, औचित्यसे और सौन्दर्यसे समर्थित हो, पर इनकी उपेक्षा करके जब हम अपने निर्णयको धनके लाभ या बचतकी दृष्टिसे करते है, तो धनपशु हो जाते है, भले ही यह लाभ या बचत एक आना हो या एक करोड रुपये, क्योकि धनपशुता धनपतित्वका अनिवार्य अग नही, यह एक वृत्ति है—एक आनेका एक शब्द कम करके जो मनुष्य तारकी स्पप्टता, उसका सौन्दर्य नष्ट करता है, वह भी निश्चय ही धनपशु है।

[७]

और तब मुझे याद आ गई वह ऐग्लो इडियन महिला जिससे अचानक उस साल शिमलेमे परिचय हो गया था। मिस नार्मन साड़ियोकी एक बहुत बडी दूकानमे सेल्समैन थी और उसका मुख्य काम था ग्राहक स्त्रियोको

एकान्त कमरेमे साडी पहनाकर खरीदारीके लिए तैयार करना, दूसरे शब्दोमे साडियोंके चुनावमे सहायता देना।

मैं यो ही एक पत्रकारकी झकमे दूकान देख रहा था कि एक दम्पति आये। दोनो साहब थे, पर यह तय करना कठिन था कि दोनोमे अधिक काला कौन है। श्रीमतीजीने ४-५ साडियाँ चुनी और मिस नार्मनके साथ कमरेमे चली गईं। वहाँसे वह करीनेके साथ जो साडी पहने हुए आईं, उसका रग गाढा था और किनारे इतने भारी कि देवीजी मुझे साझी-सी लगी।

उनके पतिने मिस नार्मनसे रग और भारीपनकी शिकायत की, तो वे एक दूसरी साडी दिखाकर बोली—"भद्र पुरुष, मेरा समर्थन तो इस साडीको प्राप्त है, पर श्रीमतीजीकी पसन्द उसके पक्षमे है।" सचमुच वह साडी बहुत फबनेवाली थी।

पतिने रुपया दिया और चले गये। तभी मैंने आगे बढकर कहा—"मेरी बहन, क्या मै इस साडीको देख सकता हूँ?" सम्बोधनसे वह प्रसन्न हुई और साडी उसने मुझे दिखाई। इस साडीकी कीमत २३५) रुपये थी और जो वे ले गई उसके दाम थे ३६२) रुपये।

"माफ करना बहन, एक प्रश्न है कि आप उसे कम कीमतकी साडीका सुझाव क्यो दे रही थी?" मैंने गहरे होकर पूछा, तो बहुत ही सधे स्वरमे मिस नार्मनने कहा—"मेरे भाई, मेरा काम ग्राहकोके बटुये खाली कराना नही, उन्हे चुनावमे सहायता देना है।"

मै उसे धन्यवाद दे लौट आया, पर इतने वर्षोके बाद भी मिस नार्मन मेरे सामने खडी है और उसके साथ ही वह काली मेम भी—वही बेतुकी साडी पहने और पहने क्या, बस लादे!

मै सोच रहा हूं इन दोनो महिलाओके ठीक बीचोबीच धनपति और धनपशुकी वह विभाजक रेखा खिंची है, जिसे मै इतने वर्षोसे खोज रहा था। यह काली महिला है धनपशुका प्रतीक, क्योकि इसके चुनावका आधार है धन और यह गोरी महिला है धनपति; क्योकि इसके सुझावका आधार है सौंदर्य, औचित्य और न्याय।

चिड़िया, भैंसा और बछिया

[१]

पेट तो भर गया, पर आधी रोटी थालीमे शेष है। भीतरसे एकने ताना फैलाया—'अरे, खा भी लो, दो टुकड़े ही तो है, और दूसरेने बाना भर दिया—'तुम तो कभी जूठा छोडते ही नही, बस चार बार मुँह और चलाओ कि थाली माफ।'

देख रहा हूँ ताना भी ठीक है और बाना भी ठीक, पर आहार-विहारमे मै इतना भोला होता और ऐसी सिफारिशे सुना करता, तो अबतक तीन बार प्लूरिसीमे मर चुका होता!

फिर छोडिए मरने-जीनेकी बात, दो टुकडोके मोल रात भरकी खट्टी डकारे खरीदना, मुझे तो कुछ बुद्धिका व्यापार दिखाई नही देता।

मै उठ खडा हुआ, पर इस आधी रोटीके सदुपयोगकी बात मेरे मनमे थी, तो आधी रोटी हाथमे लिये, मै बाहर आया कि चिडियोको चुग्गा दूँ, पर देखता हूँ कि ठेलेवालेका भैसा सामने बँधा है।

चिडियोका हमारे जीवनसे भला क्या सबंध? सुबह-ही-सुबह नीद उचाटनेवाली चूँ-चूँ और घरमे तिनके-बीटोका कूडा। हूँ चली बडी चिडियाकी बच्ची कहीकी! भैसा हमारे लिए उपयोगी है, समाजका बोझ ढोता है, सौ काम करता है।

भीतरसे किसीने यह ताना-बाना पूरा कि मै अपनी आधी रोटी लिये भैसेकी ओर बढा, पर देखता हूँ, सामने ही खडी है पडौसके बाबूजीकी बछिया। गायके प्रति हिन्दूकी सहज निष्ठा है। मै उस ओर खिंच गया और बडे लाडसे वह रोटी मैने बछियाको खिला दी।

[२]

रोटी खिला दी, काम निमटा, पर काम कहाँ निमटा, मेरी रजाईकी मुलायम बुक्कलमे कहीसे यह एक प्रश्न जो उभर आया है—क्यो जी, ममता जो मानवकी सहज वृत्ति है, उसमे यह उपयोगिताका भेद कहाँसे आ घुसा? क्या यह ममताकी शुद्धताका सहारक है या उसकी दिशाका सूचक?

प्रश्न अपनेमे साफ है, पर मै उसे ज़रा और भीतरतक समझना चाहता हूँ। मेरे पास धन है मै उसे कुकर्मोमे उडा रहा हूँ। मेरे पास धन है और मै उसे सुकर्मोमें लगा रहा हूँ। मेरे पास धन है, पर न मै उसे खाता हूँ, न खर्चता हूँ, बस दबाये बैठा हूँ।

हमारे भीतर एक बोध वृत्ति है, जो कहती है कि पहली और तीसरी बात बुरी है और दूसरी अच्छी है। मनकी बात है, बिना किसी बहस-दलीलके मनमे समा जाती है—हाँ जी, दूसरी ही बात अच्छी है, फिर भी यह पूछनेकी गुजाइश तो है ही कि क्यो अच्छी है?

उत्तर साफ है कि उपयोगके आधारपर और यह उत्तर साफ है, तो यह निष्कर्ष भी साफ है कि उपयोगिता ही जीवनका एक मानदण्ड है, जो हमारी प्रवृत्तियोका मूल्य आँकती है।

मैने सोचा—तब मैने ठीक किया कि रोटी न चिडियोको दी, न भैसेको खिलाई, बछियाको भेट कर दी। अपने निर्णयकी प्रशसासे मेरा आपा आप ही आप भर गया और मै सुखसे लेट गया।

[३]

लेटते ही मुझे याद आ गई, अपने पुराने पडौसी रामदयालकी। उनके तीन पुत्र थे। बडा था भगड—शामको ऐसी चकाचक छानता था कि गुच; हाथी कटड़ा दिखाई दे, तो भैस भौरा, पर लुत्फ यह कि नशेकी झोकमे

भी उसे यह ध्यान रहता था कि कैसे वह अपने पिताके पैसे चुराये और नशेकी खुमारीपर रबडीकी तह दे सके।

दूसरा लडका गूँगा—कभीके अभिशापोको भोगने ही जैसे जगत्मे आया हो—न पढा, न लिखा, कोरा लट्ठ!

तीसरा लडका कचहरीमे नौकर, तनखाह अच्छी और उससे भी अच्छी ऊपरकी आमदनी।

रामदयाल रातदिन अपने छोटे लडकेके गीत गाता और उसकी खूब खातिरे करता। बडा लडका अपनी बदमाशियोसे मतलब भरको उचक लेता, पर वह गूँगा लडका कमानेके लायक नही, उचकनेमे असमर्थ—सब तरह दूसरोकी दयापर निर्भर। दूसरे भाइयोके फटे कपडो और टूटे जूतो-पर उसे जीना पड़ता।

एक दिन वह कमाऊ पूत भोजनपर बैठा, तो उसमे मक्खी निकल आई। वह बहुत नाराज हुआ और जूठा खाना छोडकर उठ गया। बापने सबको गालियाँ दी, उसे मनाकर लाया और नई थाली परोसकर भोजन कराया।

गूँगेसे कहा गया कि भाईकी जूठी थालीमे वही मक्खीवाला खाना वह खा ले, पर वह तैयार न हुआ। बापको गुस्सा आ गया और गूँगेपर तकडी मार पडी। पेटमे भूखकी कचोट, तनपर मारकी चसक और कलेजेमे अपमानका नासूर, बेचारा दिनभर बहुत दुखी रहा।

मेरे पिताने शामको उसे बुलाकर चाय पिलाई, खाना खिलाया और पुचकारा, दुलारा। बाहरसे मैं लौटा, तो सारा किस्सा उन्होने मुझे सुनाया, और बोले—"कैसा राक्षस बाप है रामदयाल।"

रामदयालकी याद आई, तो उस यादमेसे झाँक पडा, यह प्रश्न—

उपयोगिताके आधारपर ममताका बँटवारा करनेवाला रामदयाल राक्षस है, तो फिर तू ही कहाँका देवता है ?

[४]

प्रश्न मेरे ही विरुद्ध है, मुझे ही झकझोरता है, पर देख रहा हूँ, इससे मेरे ही भीतर एक मीठी रोशनी फैल रही है और मै सोच रहा हूँ—सम्पूर्ण ममता, अपने-बेगाने, मनुष्य-पशु, देश-विदेश सबके प्रति समान ममता, अखण्ड प्रेम ही देवत्वका पथ है। **'ना जाने किस रूपसे नारायण मिल जायँ'** सन्त तुलसीदासकी यह सूक्ति जीवनकी अखण्डताका ही तो निर्देश करती है। धर्म और राजनीति दोनो ही आज इस अखण्डताके विरुद्ध बागी होकर जी रहे हैं और तभी यह विश्व नरकका अखाडा बना हुआ है।

भोजनके बाद खानेके लिए रक्खा हुआ सेव मै उठकर उठा लाया और मैंने उसके चार टुकडे कर डाले। एक भैसेको दिया, एक बछियाको, एक अपने मुँहमे और एककी किरचे कर चिडियोको बखेर दी।

मै ऐसी जगह खडा था, जहाँसे भैसा, बछिया और चिड़िएँ दिखाई दे रही थी। हम सब एक ही सेवका रस ले रहे थे और मै हल्के-हल्के यह अनुभव कर रहा था कि हम सबको जीवनका एक ही प्रवाह घेरे चल रहा है।

पाँच सौ छह सौ क्या ?

डाक्टर भी० ला० आत्रेय अपनी व्याख्यान-यात्रा समाप्त कर अमरीकासे लौटे तो मैने उनसे कई प्रश्न पूछे। उन्हीमे एक यह था—"आप स्वय एक विद्वान् है और इस नाते निरन्तर अपने देशमे विद्वानोके सम्पर्कमे रहे है। अमरीकामे भी आप अनेक विद्वानोसे मिले होगे। क्या वहाँके विद्वानोमे और भारतके विद्वानोमे आपको कुछ अन्तर दिखाई दिया ?"

डाक्टर आत्रेयने इसका उत्तर दिया था—"वहाँके विद्वान् बहुत 'ऐक्जेक्ट' है और कभी अपने अनुभवसे बाहर नही जाते।"

ऐक्जेक्ट ? और मै रल-सा गया था, तो उन्होने कहा था—"हमारे विद्वान् निर्णय पहले कर लेते है और बादमे अध्ययन करके निष्कर्ष निकालते है। हम लोग ऊपरसे नीचे जाते है, वे नीचेसे ऊपर आते है। बातचीतमे वे उतना ही कहते है, जितना उनके अनुभवमे या अध्ययनमे निश्चित रूपसे आ चुका होता है। इसीलिए उनसे मिलकर एक गहराई और स्थिरताका स्पर्श अनुभव होता है और एक निश्चित परिणामपर हम पहुँचे होते है।"

काम चलाऊ रूपमे उनकी बात मेरी समझमे आ गई थी, पर 'ऐक्जेक्ट' का पूर्ण भाव-स्पर्श मुझे नही हुआ था और कभी-कभी यो ही यह ऐक्जेक्ट शब्द मेरे भाव-मानसमे कुछ खोजता-सा टकराया करता था। तभी मैने पढा चीनी दार्शनिक लिन यू तागका एक उद्धरण।

उसमे कहा गया था कि अमरीकन और एशियाई मनोवृत्तिमे जो अन्तर है वह इस उद्धरणसे स्पष्ट हो सकता है कि यदि किसी अमरीकन इन्जीनियरको एक सुरग खोदनेका, काम दिया जाय, तो वह इतनी बारीकीसे उसका नक्शा बनायगा कि दोनो ओरसे खुदती हुई सुरगे जब कही बीचमे

मिलकर एक होगी तो उसकी सीधमे ज़रा भी फर्क नही होगा, पर एशियाई इन्जीनियरका नक्शा ऐसा भी वन सकता है कि दोनो तरफसे खुदती हुई सुरगे कही वीचमे मिले ही नही और दोनो आर पार हो जाए। मजेदार वात यह है कि यदि अमरीकन इन्जीनियरकी सुरगमे २-४ इन्चोका फर्क रह गया, तो वह इसे अपनी बहुत वडी हार मानेगा, पर एशियाई इन्जीनियर सुरगके बीचमे कही न मिलनेपर भी कहेगा—चलो कोई वात नही एक नही तो दो रास्ते हो गये!

पढकर खूब हँसी आई, पर ऐक्जेक्टका ऐक्जेक्ट अर्थ पूरी तरह समझमे आगया। ऐक्जेक्ट, एकदम निश्चित, जिसमे वाल बराबर फर्क न हो!

हम उन दिनो अपने ज़िलेके शारीरिक प्रदर्शन समारोहकी तैयारियाँ कर रहे थे। रुडकीका फौजी मैदान इसके लिए चुना गया था। एक दिन प्रदर्शनके मुख्य विधाता भाई गगाधर सिह प्रबन्ध-व्यवस्थाके सवधमे छावनीके फौजी अधिकारीसे मिले। बातो-बातोमे अधिकारीने पूछा—'प्रमुख दर्शकोके लिए आपको कितनी कुर्सियाँ चाहिएँ?'

सादगीसे गगाधरसिह बोले—"यही पाँच छ सौ कुरसियाँ काफी होगी।"

झपाटा मारते-से अधिकारीने कहा—"यह पाँच सौ छह सौ क्या; ५०६, ५१३, ५२५, ५७२ ५८५, ५९५ या ६०० कहिये।"

सचाई यह है कि विचारोमे, बातोमे और व्यवहारमे ऐक्जेक्ट होना, सुनिश्चित होना जीवनकी ऊँचाईका मानदण्ड है। उस दिन मै और श्री ओमप्रकाश मित्तल कही जा रहे थे कि एक मित्र मिले। वोले—"कल किसी समय आपसे मिलने आऊँगा।"

मित्तलजीने कहा—"किसी समय नही, इसी समय वताइये कि किस समय आइएगा?"

बात हँसकर कही गई थी, पर ठीक थी, क्योकि 'कल किसी समय' मे दिनके १०-१२ घण्टे तो थे ही, रातके ४-५ घण्टे भी शामिल थे। इस दशामे कोई किसीसे मिलनेको कबतक बैठे, और खासकर उस दशामे जब कि उनका आना-न-आना दोनो सभव है!

वे बोले—"दोपहर बाद आऊँगा।"

वही बात कि वे अपने कार्यक्रममे ऐक्जेक्ट नही थे। न एक बजे, न ढाई बजे, न सवा चार बजे, न पौने पाँच बजे—बस दोपहर बाद!

यही सामने आ गया है गाँधीजी और सरदारका एक मजेदार सस्मरण। दोनो किसी मसलेपर बाते कर रहे थे कि रोककर सरदारने कहा—"अजी, छोडिए इन बातोको और यह बात बताइए कि कितनी खजूर भिगोऊँ?"

"पन्दरह खजूर भिगो दो।" गाँधीजीने कहा।

"पन्दरह नही, बीस भिगोता हूँ—अन्तर ही क्या है पन्दरह और बीसमे!" सरदार बोले।

"अच्छा, तो दस भिगो दो।" गाधीजीने कहा।

'ऐं! दस ही?" सरदार चौंके, तो गाँधीजीने कहा—"ऐं क्या, जब पन्द्रह और बीसमे अन्तर नही। तो दस और पन्द्रहमे ही क्या अन्तर है?"

दस और पन्द्रहमे जो अन्तर है, सो तो है ही, पर सात और आठमे उससे भी बडा अन्तर है, यह उस दिन जाना।

"कहो भाई किस गाडीसे जा रहे हो?" श्रीओमप्रकाश मित्तलने एक मित्रसे पूछा, तो बोले—" सात-आठ बजेवाली गाडीसे जा रहा हूँ।"

मुस्कराकर मित्तलजीने कहा—"आपको गाडी अवश्य मिल जायगी।"

"क्यो, क्या बात है?" उन्होने पूछा, तो उत्तर मिला—"नही,

कोई खास बात नही, सिर्फ यह बात है कि आप सात बजे स्टेशन गये, तो आपको दिल्ली जानेवाली गाडी मिलेगी और आठ बजे गये, तो अम्बाला जानेवाली, पर गाडी जरूर मिलेगी।"

ओह, एक घण्टेका इतना मूल्य कि पूर्वको जानेवाला यात्री पश्चिमको चल पडे। फिर घण्टा ही तो समयकी सबसे छोटी इकाई नही है। उसका साठवाँ भाग मिनट है और उसका भी साठवा भाग है सेकेड। देखी तो होगी आपने सेकेण्डकी सुई, जो पलक झपकते अपना चक्कर पूरा कर लेती है?

और यह मिनट और सेकेण्ड, इतने शक्तिशाली तत्त्व है कि मनुष्यका भाग्य बदल सकते है, क्योकि यदि आपके जन्मका समय नोट करनेमे माता-पिता जरा भी चूक गये हो, तो फलित ज्योतिषके अनुसार आपका जन्म-लग्न बदल सकता है और उसके कारण आपके भाग्यका पूरा फलादेश भी। इस दशामे आप एक अच्छी दुलहन पानेसे वचित रह सकते है, क्योकि अब आपकी कुण्डली उसकी कुण्डलीसे नही मिलती।

फिर मिनट-सेकेण्डका मामला पुराण-पथियोका ही तो प्रश्न नही कि हम उन्हे दकियानूस कहकर टाल दे, यह तो एक वैज्ञानिक प्रश्न है। अन्त-र्राष्ट्रीय ज्योतिष सम्मेलनने अपने डबलिन अधिवेशनमे आजके सेकेण्डको बहुत बडा मानकर एक नये छोटे सेकेण्डकी रचना की है। इसके अनुसार ६४॥ दिनमे मनुष्यको १ सेकेण्डका, प्रतिवर्ष ५॥ सेकेण्डोका और प्रति ग्या-रह वर्षोमे एक मिनटका लाभ होगा। और भी जरा आगे बढे तो ६५५ वर्षो-मे एक घण्टा!

क्या हम उसे उन वैज्ञानिकोकी झक माने? तेनसिह और हिलैरी एक साथ एवरेस्टपर चढे, पर ससारका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि दोनोमे पहले किसने अपना कदम ऊपर रक्खा? ठीक है कि दोनोमे बहुत अन्तर नही हो सकता, पर इस नगण्य अन्तरके गर्भमे ही एक बडा प्रश्न

छिपा है—'ससारके सबसे ऊँचे शिखरका विजेता पूर्वको माना जाय या पश्चिमको ?' इस बडे प्रश्नका एक काल्पनिक प्रश्न है, जो इसपर तेज रोशनी डालता है—यदि मगल लोकके लिए अमेरिका और भारतसे एक साथ दो जहाज उडे और दोनो ही तीन बजकर पैतीस मिनटपर मगलमे प्रवेश करे, तो प्रथम प्रवेशका श्रेय किसे मिलेगा ? निश्चय ही उसे, जिसे इस नई छोटी सेकेण्डका समर्थन प्राप्त होगा।

फिर जीवनमे ऐक्जेक्ट होनेके लिए सेकेडो, मिनटो, घण्टो या दिनोका ही तो प्रश्न नही है, उसके लिए एक शब्द और एक स्पर्शका भी महत्त्व है। दोनोका उदाहरण महादेव भाईकी डायरीमे सुरक्षित है।

गाँधीजीने उस समयके भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होरको जेलसे एक पत्र लिखाया। उसमे, एक वाक्य था—'मैं आपका बहुत आभारी हूँ' पर बादमे उन्होने 'बहुत' शब्द निकलवा दिया।

उसी जेलमे एक दिन सरदार पटेल गाँधीजीके लिए सोडा और नीबू पानीमे घोल रहे थे कि उनपर गाँधीजीकी तकडी झाड पडी—"क्या आपको नर्सिगका एक कोर्स देनेकी जरूरत नही है ? देखिए तो, आपने चम्मच ऊपर पकडनेके बजाय ठेठ मुँहके पास पकडा है। यह सारा चम्मच गिलासमे जायगा, इसलिए उस जगह उसको हाथसे छूना ही नही चाहिए। और जिस रूमालसे आपका मुँह पोछा जाता है, उसीसे आपने इस चम्मचको साफ किया। आपको मालूम है कि कोई नर्स आपरेशनके कमरेमे ऐसा करे, तो उसे बर्खास्त कर दिया जाए।"

तो जीवनका नाश करनेवाले दोष प्रमादसे बचिए, हौलूपन और लूलूपन—दोनोसे दूर रहिए, व्यवस्था और नियमितताके नियमोका पालन कीजिए और सक्षेपमे, ठीक तरह काम कीजिए, ठीक समय काम कीजिए, ठीक काम कीजिए, यानी ऐक्जेक्ट रहिए।

———

बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?

उस दिन दिल्लीमे एक मित्रसे मिलने सुबह-ही-सुबह उनके घर गया, तो मिलते ही बोले—"बिडला-मन्दिर देखने चलोगे ?" उनकी सालीजी आई हुई थी और वे उनके साथ बिडला-मन्दिर जानेको तैयार थे। मेरे पास न समय था, न रुचि; मै कुछ देर मित्रसे बाते कर चला आया।

बाजारसे कुछ चीजे खरीदी और तब एक दूसरे मित्रके घर जा निकला। समयकी बात, उनके भी कुछ सगे-सबधी आये हुए थे और वे कही जाने-की तैयारीमे थे। छूटते ही पूछ बैठे—"भाई साहब, बिडला-मन्दिर देखने चलोगे ?" मुझे जाना नही था, लौट आया।

दो-चार गलियाँ पारकर चाँदनी चौकमे आया ही था कि एक मोटर मेरे पास आकर ठहर गई। देखा, पूरे परिवार और कुछ दूसरोके साथ मोटरमे भरे वे कही जा रहे है। वे, मेरे एक मित्र और बस वही प्रश्न—"चलिए, चलते है बिडला-मन्दिर देखने ?"

मैंने हाथ जोडे और आगे बढा, पर देखता हूँ एक प्रश्न सामने खडा है—ये सब बिडला-मन्दिर देखने जा रहे है, तो क्या यह विशाल मन्दिर सिर्फ देखनेके ही लिए है ?

जानता हूँ देखना जीवनका कोई साधारण सुख नही है, आँख है, तो जहान् है, पर मै एक आस्तिक प्राणी हूँ और अशान्तिके अनेक अवसरोपर मन्दिरोके वातावरणमे शान्ति पा चुका हूँ। हरद्वारमे मीलोकी चढाई चढ-कर अनेक बार मै चण्डीके मन्दिरमे पहुँचा हूँ और फिर वहाँसे नीचे उतर-कर गौरीशकरके मन्दिरमे गया हूँ, शाकम्भरीके वनमे बिहरा हूँ और हृषीकेशके वनको पारकर आकाश तककी चढाई चढ मैंने नीलकण्ठके मन्दिरमे भी अपनेको पाया है।

ये सब तीर्थ है और जीवनके निर्माणमे, उसे बहिर्मुखतासे मोडकर अन्तर्मुख करनेमे सहायक-साधन है। मै जब पहली वार विडला-मन्दिर गया था, मुझे यह बात खटकी थी कि वहाँ कोई पूजन नही कर सकता, केवल दर्शन कर सकता है, पर दर्शन भी देखना ही रह गया है, यह आज जाना।

दिल्लीका लाल किला भी देखना है और विडला-मन्दिर भी; वैसे ही, जैसे ससद-भवन भी और क्या वैसे ही कि जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

दर्शन और देखना, देखना और दर्शन, दोनो मेरे भीतर आगे-पीछे घूम रहे है। वे क्या घूम रहे है, मै ही घूम रहा हूँ। घूम इतनी तेज है कि अपनी प्रौढ वयमे ही मै कोई ५-६ वर्षका बालक हो गया हूँ और हरिद्वारमे गगा नहाने पहुँचा हूँ। मा मेरे साथ है और वह चाहती है कि मै गगामे घुसकर गोते लगाऊँ, पर इतनी विशाल गगा और यह तेज़ धारा, मेरी हिम्मत नही होती।

माँ जलसे ऊपरकी पैडीपर वैठ गई और उसने मेरा एक हाथ मजवूतीसे पकडकर मुझे दो पौडी जलमे उतार दिया। माँ के हाथमे मेरा हाथ है और मै छवकछव नहा रहा हूँ—वाह, क्या आनन्द है ?

और वस मै फिर वालकसे प्रौढ हो गया हूँ। देखता हूँ चाँदनी चौक-मे चला जा रहा हूँ, मेरे भीतर घूम रहे है दर्शन और देखना, देखना और दर्शन और मै अव पकड पा रहा हूँ जीवनका यह सत्य कि दर्शन है माँ का हाथ पकडकर गगामे नहाना !

क्या मतलब ? हाँ, ठीक है, सत्यका सूत्र हाथ आ गया है और उसकी व्याख्या अभी शेप है। हम देवताकी मूर्तिके दर्शन करते है तो माका हाथ पकडकर नहाते ही तो है। मनुष्यके भीतर, उसकी पार्थिव देहके अन्तरमे चैतन्यकी एक विशाल और तेजस्वी धारा वहती है, पर अपनी वहिर्मुखता-

मे डूबे हम उसमे उतर नही पाते, उसके स्पर्शका सुख नही ले सकते, तो अपनी सारी वहिर्मुखताको बाहर स्थित देवताकी प्रतिमामे थमा-अटका, भीतर बहती चैतन्यकी उस धाराका एक नन्हा-सा स्पर्श ले लेते हैं। यही दर्शन है।

और देखना फिर क्या है? प्रश्न ठीक है। देखना एक तो देखना ही हैं कि जो आँखोके सामने आया दिख गया—देख लिया और एक देखना हैं विशेष वस्तुका देखना, लाल किलेका देखना, किसी दूसरी सुन्दर वस्तुका देखना, उसका देखना जिसे हम प्यार करते है। यह देखना ही असलमे देखना है और इसका अर्थ हैं अपनी सारी बहिर्मुखताको, जो यहाँ वहाँ बिखरी है, किसी बाहरी, पर विशेष वस्तुमे एकत्रित करना।

और लो, खरीजका रुपया बनाये दे रहा हूँ—दर्शन हैं आन्तरिक एकाग्रता और देखना है बाहरी एकाग्रता। पहली विकासका पथचिह्न है और दूसरी विलासका।

दर्शन और देखनाकी धूम पूरी हो गई है, पर एक नया प्रश्न फूट आया है—तो क्या बिडला-मन्दिर भी हमारी 'लक्जूरियस लाइफ' का ही एक चोचला है—वह जीवनकी विलासिताका ही एक अग है? उसका कार्य हमारा मनोरजन करना ही है, मानस-विकास नही? वह दर्शनकी भी नही, बस देखनेकी ही एक चीज है?

मेरे पैर सडकपर इच्छित दिशामे बढे चले जा रहे है, पर मस्तिष्कमे वही प्रश्न घूम रहा है—तो बिडला-मन्दिर भी देखना है और लाल किला भी, वैसे ही जैसे ससद भवन और वैसे ही, जैसे सिनेमाका कोई शो भी?

पैरोका काम पूरा हो गया और यह लो मै अपने मित्रके द्वारपर हूँ। भीतर गया तो देखा, मित्र तो नही है, उनकी पत्नी है। उन्हे देखते ही मेरा प्रश्न जैसे फूट पडा—"आपने कभी बिडला-मन्दिर देखा है भाभी?"

उत्साहसे बोली—"हाँ भैया, देखने लायक जगह है, वह तो! हमारे यहाँ कोई मेहमान आता है, तुम्हारे भाई साहब उसे जरूर दिखाने ले जाते हैं। क्यो तुमने नही देखा क्या ?"

उनके उत्साहसे मै और गहरेमे उतर गया। हर खोज देखने लायक पर पहुँचती है और मनकी उधेड बुन यह है कि वह कुछ और हो, पर नही, देखने लायक ही है बिडला-मन्दिर! मेरी आस्तिकता विह्वल होकर पूछती है—अरे देखने लायक तो हर तमाशा होता है, इसे तो तीर्थ होना चाहिए, जहाँ निर्माणकी प्रेरणा मिले, निर्माणका उद्बोधन!

मुझे लगा कि मेरे भीतर एक आँधी चल पडी है—विचारोकी, मन्थनकी, चिन्तनकी आँधी और उसीमे कहीसे सुन पडी यह बाँसुरी—"मूर्ख, धन तमाशेका ही निर्माण कर सकता है, तीर्थका नही, तीर्थका निर्माण करनेकी शक्ति तो केवल तपमे है!"

आँधी शात हो चली है और तीर्थके वातावरणसे मेरा मन भर उठा है। मै यह भूल गया हूँ कि कहाँ, किसके निकट हूँ और मेरी आँखे बद हो गई है, हाथ भी परस्पर आ जुडे है।

भाभीने मुझे इस मुद्रामे देखा है और चुटकी ली है—अरे भाई, यह क्या पूजा-सी कर रहे हो ?

प्रश्नने मुझे समेट लिया है, मै अपनेमे सिमट आया हूँ, पर अनुभव कर रहा हूँ कि मै अभी हाल किसी तीर्थमे भक्ति भावसे आत्मचिंतन कर लौटा हूँ।

छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

उस दिन दिल्ली जा रहा था। खेतोमे प्रकृतिका महोत्सव हो रहा था। उगे-उभरे गेहूँके खेत, हरी मखमलके कालीनसे और बीच-बीचमे पका-पनपा ईख,सरसोकी पीली छिटक, तो मटरके तितलियोसे होड बाँधते रग-बिरगे फूलोकी बहार। देखो तो आँखे ठडी हो, सोचो तो दिमागमे कारीगरीके पौधे खिल जाये और समझो तो बस समझनेको कुछ बाकी न रहे; जगलका हर पत्ता एक उपन्यास हो रहा था।

इसी उपन्यासको पढते-पढते रेलके डब्बेमे झाँका, तो देखा मेरे सामनेवाले सज्जन अपने छोटेसे पानदानसे निकालकर पानका टुकडा खा रहे है। अरे साहब, उन्होने पान खाया और पानदानपर एक नन्हा-सा ताला लगाकर रख दिया।

मै फिर अपने खेतोमे उलझ गया और यो ही फिर डब्बेमे झाँका, तो वही दृश्य कि उन्होने पानदान निकाला, ताला खोलकर पान लगाया-खाया और सावधानीसे ताला बन्दकर रख दिया।

क्या इस आदमीके इतने दुश्मन है कि इसे पानमे भी विषका भय है ? या यह आदमी इतना सकीर्ण है कि अपना पानदान अपनोसे भी अछूता रखना चाहता है ?

ये दो प्रश्न मनमे उठे तो सही, पर इनका समाधान कैसे हो ? यह लिपटी हुई जन्मपत्री खुले कैसे ?

मैने उस आदमीकी आकृतिका अध्ययन आरभ किया। उम्र कोई ६० साल, स्वास्थ्य साधारण, चेहरेपर कठोरता और रौब। मुझे लगा कि पानदानके तालेका मार्ग कही इधर ही है और तब मैने उन्हे बातचीतकी खरादपर चढाया। पता चला कि हजरतके घरमे बेटे है, पोते है, पोतियाँ

हैं, बहुए हैं, पेंशन आती है, घरवाली मर गई है, बेटे मामूली हालतमे हैं—पढानेकी बहुत कोशिश की, पर पढे ही नही कम्बख्त। आप भी मामूली उर्दू जानते हैं। पिछली लडाईमे लडे थे। कई इनाम मिले। अब रुपया सूदपर चलाते है।

इस जानकारीको मथकर मैंने यह सार निकाला। बूढा, अपत्नीक, फौजी और सूदखोर। विषका इसे खतरा नही, लोभ और चिडचिडेपनकी तस्वीर है यह ताला।

अब मुझे अपनी परीक्षा करनी थी। मैंने प्रश्नका बाण निशानेपर रक्खा—"मालूम होता है किब्ला, पोती-पोते बहुत तग करते है। इस तालेसे आपने उनका खूब इलाज किया है।"

बूढेकी आवाज गले आते-आते रुकी, तो मैंने सिसकारी दी—"सचाई यह है बडे मियाँ कि बच्चोका हाथ पडनेसे पानका मजा किरकिरा हो जाता है।" बूढेजी खुल पडे—"बच्चे तो है ही साहब, पर बहुएँ उनसे भी बढकर शैतानकी परकाला हैं। एक मिनट चैन नही लेने देती—जरा आँख बची कि पान साफ।"

मैं अपनी परीक्षामे पास हो गया था और अब बूढेमे मुझे कोई दिलचस्पी न थी, तो मैं फिर अपने खेतोमे था और सोच रहा था—यह ताला बूढेके पानदानपर नही, जीवनके आनन्द स्रोतपर ही लगा हुआ है।

मेरे गलेमे एक गुनगुनाहट आ समाई और उसमेसे प्रस्फुटित हुई रवीन्द्रनाथकी वे पक्तियाँ, जिनका भाव है—"मैं पाप और कलमपसे अपनेको बचानेके लिए, चारो ओरके द्वार बन्द कर बैठ गया। बाहरसे सत्य-पुण्यने पुकारा, द्वार बन्द है, कैसे हम तुझतक आये?"

ठीक ही है, जो तालेमे बन्द है, उसतक कोई कैसे पहुँचे? फिर यह कोई सत्य हो या पुण्य, आनन्द हो या रस।

[२]

और ताला, क्या लोहे पीतलका ही ताला; जैसा बडे मियाँने अपने पानदानपर लगा रक्खा है ?

प्रश्न अजीब है; अजीब कुछ अद्‌भुत नही, निरर्थक-अर्थहीन, क्योकि ताला होता ही लोहे पीतलका है, पर ना, प्रश्न सार्थक है—सार्थक ही क्यो बहु-अर्थक है, अनेक अर्थवाला।

निरर्थक और सार्थककी समीक्षामे ध्यान ८००० फीट ऊँचे एक पर्वतीय नगरमे चला गया है। लताओका एक निकुज और उससे सटकर बिछी सीमेटकी बेच। पर्वत, वन, एकान्त और शीतल वातावरण। मै बैठा हूँ, कही आस-पास कोई नही है, आँखोमे पर्वतके शिखर है, तो मनमे भारतके भविष्यकी झाँकी। जीवनके कितने स्रोत प्रवाहित हो रहे है उस भविष्यमे कि सारा वातावरण रससे ओतप्रोत है। वाह, कैसे सजीव गाँव, कैसे लहलहाते खेत, हँसते-खेलते बालक, उभरते तरुण, उत्फुल्ल रमणियाँ और शान्त-प्रसन्न बूढे। गाँवकी यह ताजगी मुझपर छाई जा रही है।

तभी तीन सज्जन कहीसे उस बेचपर आ गिरे! अशिष्ट होकर नही, सत्यदर्शी होकर कह रहा हूँ—आ गिरे! कोई एकान्तमे आकर जाने किस ध्यानमे बैठा है, इसका उनके लिए कुछ अर्थ ही न था। मै उन्हे देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ ये तीनो भौन्दू पढे लिखे है, पर इन्हे यह ध्यान ही नही है कि कहाँ बैठे, कैसे बैठे और कैसे बातचीत करे। मैने झुककर उन तीनोके पैरोकी ओर झाँका। उनमे कोई भी लगडा न था। इस बैचसे कुछ दूर आगे दूसरी अनेक बैचे बिछी हुई थी और यह दस कदम चल वहाँ बैठ सकते थे, पर नही इन्हे यही बैठना था।

बातोसे जाना कि तीनो तीन कालेजोके प्रिसिपल है। एक बोले—"बडे धूर्त होते है हमारे स्टूडेण्ट। ऐसी सफाईसे धोखा देते है कि बडे-

वडे जालसाजोको मात माननी पडती है।" दूसरा उभरा और उसने विद्यार्थियोकी धूर्तताके कई किस्से सुनाये। तीसरा शिक्षा-विभागके अधिकारियोकी बेवकूफियोका वर्णन करने लगा और बस उनकी बाते उनके कालेजोके क्लासोके घेरेमे घूमती रही।

मै थोडी ही देरमे ऊब गया और उठ चला। चलते-चलते मैने सोचा—विचारोकी सकीर्णतामे कुएँके मेढकको सबसे अधिक अभागा कहा गया है, पर ये प्रिंसिपल क्या उनसे भी अधिक अभागे नही है कि पर्वतोकी इस प्राकृतिक गोदमे बैठकर भी अपनी चारदीवारीके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नही सकते!

एक दूसरी बेचपर बैठते-बैठते मेरे मनमे आया—सरकार उपयोगिताके आधारपर अपने नियम बनाये, तो इन तीनो और इसी तरहके दूसरे अध्यापकोको गरमीकी छुट्टियोमे स्कूल-कालेजोके पाखानोकी धुलाई, छतोकी घास-खुदाई, दीवारोकी लिपाई, कमरोकी पुताई और आँगनोकी सफाईके काममे लगाये। एक दिनके लिए भी कही जाने न दे!

इस घटनाको हुए, बरसो बीत गये, पर आज सोचा—क्या बडे मियाँके पानदानकी तरह इन लोगोंके दिमागोपर ताला नही लगा था? और लगा था—हाँ, लगा ही था—तो क्या यह ताला लोहे-पीतलका था? ना, यह वातावरणका ताला था, उस लोहे-पीतलके तालेसे भी अधिक कठोर और मजबूत!

[३]

दिल्लीकी यात्रामे एक दृश्य सदा ज्यो का त्यो मुझे देखना पडता है। मुजफ्फरनगरसे कुछ लोग रेलके डब्बेमे आजाते है और मेरठतक चलते है। डब्बेमे ये १०-५ आदमी क्या आते है, नई मण्डी ही घुस आती है—उडदका भाव, गेहूँका भाव, गुडका भाव, मीझेका भाव और सरसोका

भाव तो तुलता ही है, बीजकोके सौदे भी छनते है और आढतियोकी चालाकियाँ भी खरादपर आ जाती है। ये लोग इतने जोर-जोरसे बोलते है, कई-कई एक साथ बोलते है कि और कुछ सोचना असभव हो जाता है। असम्भव क्या, बस इतनी देर दिमागको मण्डीकी खत्तियोमे बन्द रखना पडता है।

उन बेचारोको देखकर, मन दयासे द्रवित हो जाता है और मै सोचने लगता हूँ, इनके लिए दुनियामे खत्तियाँ है, बीजक है, भाव है, और बस और कुछ नही है, कुछ भी तो नही है—उनमेमे कोई मेरा दैनिक माँगकर देखता भी है, तो बस मण्डियोके भावोका पन्ना ही पढता है।

और मुझे याद आ जाते है अपने नगरके वे दूकानदार, जो मगलकी छुट्टीके दिन भी अपनी तालाबन्द दूकानके बाहरी तख्तेपर ही पसरे जम्भाइयाँ तोडते रहते है और उन्हीके शब्दोमे जिनको शिकायत है— "बाबूजी, यह अच्छी मनहूस छुट्टी है कि दिन काटे नही कटता!"

[४]

विद्वान् तपस्वी और सन्यासी, तीनो गुण एक साथ और रूँगामे कर्मठ भी—रात-दिन धर्म-रक्षाकी चिन्तामे लीन। यो ही एक बार मुझे भी सम्पर्क प्राप्त हो गया। घण्टो साथ रहा, पर उनकी किसी बातका सम्बन्ध न विद्वत्तासे, न तपस्यासे, न वैराग्यसे, न कर्मसे। हर बात १६ वी सदीकी, हर बात जडताकी और हर बातका बस यही अर्थ कि ज्ञानका सूर्य, अतीतमे निकल चुका, बुद्धिकी रोशनी सदियो पहले फैल चुकी। आजके मनुष्यको कोई नई बात नही सोचनी—किताब देखकर तिलिस्मके दरवाजे खोलते जाना है।

देख-सुनकर बडी दया आई कि बेचारा घर कुटुम्बकी ममताका घेरा तोडकर सफेदसे रगीन हो गया, पर विचारोके तालेको न तोड सका।

छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

मेरे नगरके ही एक सज्जन है। २१ वर्षकी उम्रमे पुलिस दारोगा हुए थे, ५७ की उम्रमे पेशन पाई और अब ८२ वर्षके है। यो समझिये कि चौथाई सदी पहले दारोगा थे, पर आज भी सारा शहर दारोगाजी कहता है। कोई भूला-भटका बाबूजी कह दे, तो उन्हे ऐसा लगता है कि यह मेरी चपरास छीन रहा है। तालेमे बन्द है बेचारे और क्या?

एक और परिचित है। मर-मारकर डिप्टी हो गये है और अब उनकी बीवी और बेटा, तो उन्हे डिप्टी कहते ही है पर दुखी है कि माँ अब भी उनका नाम ही लेती है, उन्हे डिप्टी नही कहती।

अजी छोडिए इस डिप्टी और दारोगाको, वर्माजी और केशोजीको लीजिये। वर्माजी विख्यात लेखक है और लेखक क्या है लेखकोके महन्त है। पहली बार मै दर्शन करने गया, तो बहुत प्रभावित हुआ उनकी बातोसे। अपने सग्रहकी कथा उन्होने सुनाई और तब कई नेताओके सस्मरण। मैने सोचा—ज्ञान, सग्रह और सपर्क, तीनो दृष्टियोसे ये महान है और उठते-उठते जब उन्होने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित मेरे एक लेखकी प्रशसा की, तो उनकी स्मरण शक्ति और सहृदयताका मुझपर बहुत ही गहरा प्रभाव पडा।

और केशोजी? वे एक बडे नगरके पत्रकार है। कोई ३० वर्ष हुए एक साधनसपन्न साथी उन्हे मिल गया था और वे भभक उठे थे। तब उस नगरमे वे ही वे थे। कोठी थी, फोन था, कार थी, रौब था, धूम थी—अजी, क्या न था, यह था, वह था सभी कुछ था। कुतुबमीनारसे लुढके कि बस लुढके और फिर उठनेका नाम नही लिया।

जब पहली बार मिले, तो उसी सूर्योदयकी कथा कही और जिन अनेक लेखकोको मै सिर झुकाता हूँ, उन्हे अपना निर्माण बताया। उनकी विशिष्टताका मुझपर गहरा प्रभाव पडा।

यह प्रभाव काफी गहरा था, पर दूसरी वारके मिलनमे वह कच्चे रगकी तरह उड गया, क्योकि वर्माजीने और केशोजीने मुझसे वे ही बाते की—दूसरी बार ही नही, तीसरी, तीसवी और सौवी बार भी बातोका घेरा वही रहा और अब तो मेरे मनकी स्थिति स्पष्ट है कि उनसे मिलता हूँ, तो पहले ही एक पुराना और घिसा रिकार्ड सुननेके लिए अपने कानोको तैयार कर लेता हूँ।

स्पष्ट है कि वर्माजी और केशोजी और ऐसे ही दूसरे सैकडो-हजारो जी समयके तालेमे बन्द है—उससे बाहर झाँकनेकी न उनमे इच्छा है, न शक्ति—ओह, बेचारे अपने ही समयके कैदी; एक ऐसे तालेमे बन्द, जिसके निर्माता भी वे स्वय ही है।

[५]

अब्राहम लिंकन अमरीकाके प्रेजीडेंट और अपने समयकी दुनियाके बडे आदमी, जिनके चारो ओर काम ही काम।

कार्यालयसे लौटकर अपने मकानमे थे कि उनका राज्य-सचिव उनसे मिलनेको आया। प्रेजीडेंटने कहलाया "इस समय राज्यकी, राजनीतिकी बात मुझे पसन्द नही, मै अपनी घरेलू जिन्दगीके वातावरणमे हूँ।"

राज्य-सचिवको देशके एक नाजुक मामलेमे उनका आदेश लेना है और इस आदेशके मिलनेमे विलम्ब हो, तो देशकी हानि हो सकती है, यह अनुरोध उनतक पहुँचा, तो उन्होने राज्य-सचिवको भीतर ही बुलवा लिया।

प्रेजीडेंट अपने भीतरके बरामदेमे एक घुटन्ना और बनियान-सा पहने घुटनो और पजोके बल घोडा बने हुए घूम रहे थे और एक सवारके रूपमे उनका बच्चा उनकी पीठपर बैठा उन्हे हाँक रहा था।

सचिवसे उन्होने कहा—देखते है आप कि यह राज्यका नही, मेरे बच्चोका समय है और इस समय मै किसी देशका शासक नही, इनकी एक

सवारी भर हूँ। इसलिए आपकी बात सुननेके लिए रुकना तो मेरे वसका नही, हाँ, मेरे साथ घूमते-घूमते आप अपनी बात कह सकते है और मेरा आदेश सुन सनते है।

विख्यात दार्शनिक काट जिस दिन अपने घर रहते, भोजनपर भिन्न-भिन्न विपयोके २-३ विद्वानोको निमन्त्रित करते थे। उनका नियम था कि वे अपने विषयकी बात न चलाकर दूसरोकी बात सुनते रहते थे।

पोपको जव समाजके लोगोने अभिवादन किया, तो हाथ उठाकर पोपने उसका जवाव दिया। उन्हे वताया गया कि पोपके लिए अभिवादनका उत्तर देना आवश्यक नही है।

उन्होने कहा—मुझे पोप वने अभी इतना अधिक समय नही हुआ कि मै प्रथाओका वन्दी हो जाऊँ और मनुष्यताके साधारण नियमोको भुला दूँ।

श्री पुरुपोत्तमदास टण्डनने उत्तर प्रदेशकी विधान सभाका स्पीकर (अध्यक्ष) चुने जानेपर भी पार्टीकी सदस्यता छोडनेसे इकार किया, तो विरोधी दलने कहा—ससारमे यही प्रथा है कि स्पीकर किसी पार्टीका सदस्य नही रहता।

टण्डन जीने कहा—मेरा काम पुरानी प्रथाओको तोडना भी है और नई प्रथाओको वनाना भी।

जीवनकी स्वतन्त्रताका तकाजा है कि हम अपनेको तालेमे बन्द होनेसे वचाएँ। यह ताला लोहे-पीतलका ताला हो या वातावरणका, या फिर अन्धविश्वासका, झूठी प्रतिष्ठाका या पुरानी प्रथाका।

जीवनका सुख वन्दी होनेमे नही, उन्मुक्त होनेमे है। तालोसे वचिये और लगे तालोको तोडिये!

शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

[१]

किसी भी पूर्णिमाकी रात मुझे उल्लास और मस्तीसे भर देती है, फिर उस दिन तो थी शरद् पूर्णिमाकी रात; उन्मद, खिलखिलाती और पूरे जगको अपने आँचलमे समेटे उमडी पडती-सी।

फिर मै मध्यभारतकी आनन्दपूर्ण यात्रासे लौटता, और निर्बन्ध तो नही, पर निर्बाध दौडी चली जा रही देहरा एक्सप्रेसपर सवार!

यह है छोटा-सा मोडक स्टेशन, जहाँ मध्यभारतकी उर्वरा श्यामा धरित्री राजस्थानकी रक्त-सिंचित पथरीली पृथ्वीसे गले मिलती है।

राजस्थानी इतिहासके रोमाचकारी पृष्ठो और चाँदनीकी अठखेलियोमे आँखमिचौनी-सी खेलता मै अपनी खिडकी पर बैठा हूँ।

दूरपर पहाडियाँ है, बीचमें जगल है, मैदान है, कही-कही छोटे झरनोका धीमा प्रवाह है और पुराने किलोकी टूटी चारदीवारियाँ, चौकियोकी बुर्जियाँ बिखरी पड़ी है।

कोई कहने-बतानेकी बात ह कि ये जड खण्डहर है—निर्जीव निरे पत्थर, पर क्या यह भी कोई कहने-बतानेकी बात है कि इन खण्डहरोमे हरेकका एक जीवित व्यक्तित्व है---बोलता-जागता, प्राणोकी धडकनोसे स्पन्दित होता, पुकारता और ललकारता व्यक्तित्व!

हमारे कहानीकारोको प्लाट नही मिलते, लेखकोको विषय नही सूझते और भावोकी तितलियाँ कवियोकी पकडसे ऊपर उडा करती है। काश, ये सब इन जड-जीवित खण्डहरोकी बाते सुने और यहाँ बिखरी कहानियो, लेखो और कविताओको बटोरे—बटोरे कि बटोरते ही रहे!

गाडी चल रही है कि पहाडियाँ? पुराण कहते है पहले वे उडा करती

थी, उडा करती होगी, पर आज तो वे स्थिर हैं। फिर यह क्या कि कभी वे पास आ जाती हैं और कभी फिर दूर सरक जाती हैं ? क्या वे अपने मनकी कोई बात मनुष्यसे कहनेको उत्सुक हैं, पर झिझकती हैं कि उनकी बात यह आदमी समझेगा क्या ?

और अचानक मैं अपने डब्बेमें झाँक रहा हूँ, तो उसमे ७-८ सहयात्री हैं। क्या कर रहे हैं ये लोग ? एक तो पढ रहे हैं गन्दी कहानियोकी कोई पत्रिका, दूसरे एक सी. आई डी. सिरीजकी जासूसी पुस्तक, दो फूक रहे हैं सिगरेट और कलेजा, २-१ कर रहे हैं बकवाद, यानी कोस रहे हैं जवाहरलालको और उन प्रश्नोपर दे रहे हैं धडाधड सम्मतियाँ, विशेषज्ञोकी तरह, जिनका अभी अ आ इ ई भी वे नही जानते और बस एक है कि लिखे जा रहा है सोच-सोचकर अपना हिसाब !

और बाहर चाँदनी बरस रही है, जिसमे जीवन है, आनन्द है, रस है, एकाग्रता है।

पहाडियाँ दूर चली गई हैं और जगलोका स्थान खेतोने ले लिया है। खेतोमें हरियाली है, जीवनका सौदर्य है। मैं देख रहा हूँ कि मैं दोनो ओरकेहरे-भरे खेतोके बीचसे दौडा जा रहा हूँ कोई ४०-५० मील पति घटाके वेगसे !

कुछ कैसा-कैसा लग रहा है यह ? वैसा नही, वैसा, वैसा नही ! वैसा कैसा जी ? खेत सदासे मेरे मित्र हैं, मैं अक्सर उनके बीचसे गुजरता हूँ, कभी दौडकर, तो कभी धीमे-धीमे और सदा ही मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं अपने सहृदय मित्रोकी गोष्ठीमें आ गया हूँ, पर आज मुझे वैसा अनुभव नही हो रहा है।

आज भी मैं उनके बीचमें हूँ, पर उनका वैसा जीवनस्पर्श नही पा रहा हूँ। क्या आज वे खामोश हैं ? ना, बात यह है कि मैं आज उनके बीचसे, उनके पाससे गुजर ही कहाँ रहा हूँ—उनके बीचसे गुजर रही है एक्सप्रेस

और उसमे मै बैठा हूँ, तो जब मै उनमे हूँ ही नही, तो उनका सुखस्पर्श कैसे पाऊँ ?

तो क्या विज्ञानकी हाटपर हम सुखके मोल सुविधा ही खरीद रहे है ?

मुझे याद आ गई वह नन्ही-सी चिडिया जो उस दिन मेरी बराबरीमे उड-उडकर कलाबाजियाँ कर रही थी। मै रेलके पुलपर खडा था, धरतीसे कई सौ फीट ऊँचे और वही वह उड रही थी।

अचानक मेरे मनमे प्रश्न आया था कि ऊँचाईमे तो मै और यह समान ही है, फिर आकाश-भ्रमणका जो सुख इसे मिल रहा है, मुझे क्यो नही मिल रहा ?

चिडियाको इस प्रश्नसे खीझ हुई थी और अपनी ची-चीमे उसने कहा था—हम दोनोकी ऊँचाई समान है, पर मै हूँ यहाँ अपने पखोके सहारे और तुम खडे हो मुर्दे लट्ठोपर; तुम्हे भला यह सुख कैसे मिले ?

चादनी बरस रही है, खेतोपर, पर्वतोपर, वृक्षोपर और मैं सोच रहा हूँ उस चिडियाकी बात ! मन भी कम्बख्त अजीब फुदकैया है कि कहाँ खेत, कहाँ चिडिया और कहाँ वे एक राज्यके राज्यपाल ! पूरे जिलेके दौरेमे मै उन्हे देखता रहा। पार्टियोमे उनका दिन बीता, तो समारोहोमे रात, बराबर वे जनताके बीच रहे, पर क्या जन-सम्पर्क था यह ? ना, ना, क्यो ? क्योकि उनके पदकी प्रतिष्ठा और राजकीय वातावरणका घेरा जो उनके एव जनताके बीच बना रहा।

चॉदनीके अथाह सागरमे तैरते हुए मेरे मनने सोचा—हमारे देशके महापुरुष लोकोत्तरताके इसी घेरेमे घिरकर अवतार हो गये—परमात्मा, परम पुरुष, परमेश्वर, उनका जीवन-चरित्र भक्तिकी कथा बन गया, पर हमारे देशकी जनतासे नित्य पूजित होकर भी वे उसकी सकटमे मानी मनौतियोका ही केन्द्र रहे, उसे चरित्र न दे पाये !

चाँदनी बरस रही है और एक्सप्रेस छोटे स्टेशनोको छोडती, उनपर उपेक्षाकी एक दृष्टि डालती बढी चली जा रही है, जैसे ज्ञानी जगत्के प्रलोभनोको देखता भर है, उनमे उलझता नही।

यह आई छोटे-से स्टेशनकी फाटकचौकी, जिसकी छोटी-सी कोठरीमे रहता है फाटकदारका परिवार, जिसे मिलते है थोडे-से सिक्के, जिनसे वह जी पाता है, पर अपनी दृष्टिमे वह है एक अफसर कि जब चाहे दरवाजा बद कर दे और टुकर-टुकर खडी ताका करे गाँवके ठाकुरकी बैलगाडी ! "कही दूरपर भी रेलका धुवाँ दिखाई नही दे रहा !" तो न दिखाई दे, इससे मतलब ? आखिर उसीका निर्णय तो यहाँ माना जायगा कि कब वह फाटक खोले और कब वह बन्द करे !

मै देख रहा हूँ, उसका छोटा-सा कुत्ता अपने पूरे वेगसे गाडीके साथ दौडा जा रहा है। बेवकूफ, क्या खाक दौडेगा भला रेलके साथ ! क्या पिद्दी और क्या पिद्दीका शोरबा ?

पर नही, वह जी तोडकर दौड रहा है—घोडो और खोजोंके एक साथ नेता हिजहाइनेस आगा खाँका घोडा भी डर्बीकी दौडमे इससे तेज और क्या दौडता होगा ?

तीन पलमे वह पिछड गया और अब वह धीरे-धीरे लौटकर जा बैठेगा फिर फाटकदारकी खाटके पास। रोज हारता है, पर शर्मसे डूब नही मरता, निर्लज्ज कहीका !

बिना मेरी यह धिक्कार सुने, वह लौटा जा रहा होगा, पर मेरी यह धिक्कार सुन मेरा मन लौट पडा है। रोज-रोजकी पराजयसे जिसकी आँखोमे समाया विजयका स्वप्न और पैरोमे उमडा अभियानका सकल्प परास्त नही होता, वह फाटकदारका कुत्ता हो या किसी राष्ट्रका सिपाही, क्या एक प्रेरक चरित्रका सरक्षक नही है ?

प्रश्न गूँज रहा है, चाँदनी स्वर्गका प्रसाद बाँट रही है, एक्सप्रेस दौडी जा रही है, पहाडियाँ दोनो ओरसे पास आती जा रही है,—दराके स्टेशन-पर तो लगता है कि वे दोनो हाथोसे जैसे ऐक्सप्रेसको अपनी ही गोदमे ले लेगी-माँ जैसे दूरसे दौडकर आते शिशुको लाडसे थाम लेती है—और डब्बेके साथी यथापूर्व अपनी कहानी, किताब, सिगरेट, बकवाद और हिसाबमे तल्लीन है!

[२]

यह आगया गगापुर स्टेशन, पर यह होहल्ला कैसा है—चढते-उतरते यात्रियोका होहल्ला तो यह है नही, क्योकि उसकी धुन जिस तारपर चलती है, वह है उतावलापन और यह होहल्ला जिस धुरीपर घूम रहा है, वह है पीडासे ओत-प्रोत बदहवासी!

क्या बात है? बात क्या है? बात है यह कि एक डब्बेमे आग लग गई है, वह काट दिया गया है और अब आधी रातके समय उस डब्बेके यात्री प्लेटफार्मपर भाग-दौड कर रहे है कि सामान सेफ रहे, साथी सब एक साथ रहे और दूसरे डब्बेमे जगह मिल जाय!

हमारे डब्बेके सामने भी १०-१२ आदमी आ खडे हुए—दीन शरणा-र्थीकी तरह, जैसे भीतरवाले तो है मालिक और बाहरवाले है भिखारी—"बाबूजी, हमे अगले स्टेशन महावीरजी पर ही उतर जाना है। जरा-सी जगह दीजिये, आपको बडा पुण्य होगा।"

"ऐ! यह इण्टर क्लास है, ड्योढा, ड्योढा, आगे जाओ!" यह जवाहरलालके आलोचक रौबसे गरजे!

"पीछे, पीछे, सब खाली पडा है पीछे!" यह जासूसी उपन्यासके पाठकने दरवाजा रोककर कहा।

मैने दूसरा दरवाजा खोलकर कहा—"इधर आजाइये आप लोग!"

वे सब लोग चढ गये और मेरे साथियोंने मुझे घूरा, जैसे किसी भगीने कर-पात्री स्वामीका दण्ड छू दिया हो, पर मेरे कपडोकी सफेदी उनके कण्ठमे भर-सी गई। बाकी यात्री तटस्थ रहे, पर आनेवाले आपसमे इतने जोर-जोरसे बाते करने लगे कि किसीके लिए भी सोना असम्भव हो जाय।

मै फिर अपनी चादनीमे नहाने लगा, पर तभी मेरे मनमे आया यह प्रश्न कि आजके मनुष्यका आकर्षण न प्रकृतिमे है, न मनुष्यमे, तो फिर किसमे है ?

मेरे सामने थे, उसी डब्बेके पहले यात्री, जिनमे कुछ पढते रहे गन्दी कहानियाँ, कुछ जासूसी उपन्यास, कुछ फूंकते रहे सिगरेट, कुछ करते रहे बकवाद और एक लिखता रहा अपना हिसाब ही हिसाब !

और मेरे सामने थे इसी डब्बेके नये यात्री, जो इस चिन्तासे मुक्त थे कि दूसरोकी नीद खराब न हो।

[२]

तो आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमे नही है, यह निष्कर्ष मेरे मनमे आया कि वही उभर खडा हुआ यह प्रश्न—तो क्या आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमे नही है ?

चाँदनी और चिंतन एक साथ मुझे अभिभूत कर रहे है। चाँद-नीमे सौन्दर्य है, जो आँखोको पलक झपकनेसे रोकता है, तो चिन्तनमे स्मृतियाँ है, जो विचारोंके वाहनपर चढी चली आ रही है।

एक्सप्रेसके लिए अभी दिल्ली दूर है, पर मै दिल्ली पहुँच गया हूँ। एक मित्रने वहाँ अपने व्यापारका कार्यालय बनाया और काम करने लगे। बनतीके सभी रिश्तेदार, जाने कितनी गलियोमे घुमाकर उनके जीवनके चौराहेसे अपने वर्गकी रिश्तेदारी जोडता एक तरुण आया और उनके कार्यालयमें काम पा गया।

एक दिन शामको एक स्त्री कही बाहरसे आई और मेरे मित्रके कमरेमे ठहरी। उस तरुणने जानना चाहा कि यह कौन है, पर जान न पाया।

रातमे उस मित्रके कमरेके पिछले हिस्सेमे सीढी लगाकर चम्पालाल झाँकने लगा कि अपने प्रश्नका समाधान पा ले, पर सीढी धोखा दे, रपट पडी, तो तरुणजी छतसे पत्थरोपर धडामसे गिरे और छिते-सो छिते ही, दो हड्डियाँ भी ककडी-सी मडक गईं। यह स्त्री मेरे मित्रकी पत्नी थी, जो जोडे हुए रिश्तेसे उस तरुणकी बुआजी हुई।

[४]

पातमे पात और बातमे बात, मुझे याद आ गया विद्यालयका सहपाठी शम्भू। किसीका पत्र आये, वह उसे पढ लेता। इधरसे ताकता, उधरसे झाँकता, आगपर सेकता, पानीमे भिगोता; ताला खोल लेता और चील-झपट्टा करता, पर पढता जरूर। पेटका पतला, जो पढता, सबसे गाता-फिरता।

अक्सर इसी धुनमे डाकखाने पहुँच जाता, सबके पत्र ले आता, रास्तेमे कही बैठकर सबको पढता और फिर पत्रके साथ हरएकको नया रिमार्क देता। ये रिमार्क उसके चनाजोर गरम होते। किसीके पत्रमे यदि होता कि उसकी माँ उसे याद करती है, तो रिमार्क होता—"अबे तेरी मतारी स्यापा ले रही है, जाकर आँसू पोछ आ।" यदि किसी विवाहित विद्यार्थीकी पत्नी अपने पिताके घर चली गई है, तो रिमार्क होता—"अबे बछियाके ताऊ, तेरी जोरू मेरे सालेके साथ भाग गई।"

तग आकर एक योजना बनी और कई पत्र ऐसे आये, जिनमे शम्भूकी माँ बहिनोका स्तुतिगान ऐसे शब्दोमे किया गया था कि शब्दालकारोकी बस प्रदर्शिनी ही समझिये। शम्भूने आदतके अनुसार ये पत्र भी खोले—पढे, तो तबियत तर हो गई और उसने सबके सामने कसम खा ली।

मैं सोच रहा हूँ कि चम्पालाल और शम्भू अपने अनन्त रूपोंमें क्या सर्वत्र सुलभ नहीं है ? और है, जैसा कि है ही, तो फिर आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें कहाँ नहीं है ?

हममें कितने है, जो किसीके खुले दरवाजेके सामनेसे निकल जाये और पलक मारते भीतरकी एक-एक चीजका सर्वेक्षण न कर ले ?

गंगापुरमें चढ़े यात्री महावीरजी पर उतर रहे थे और मैं सोच रहा था—मनुष्यका आकर्षण मनुष्य और जीवनकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें आज भी है, पर वह अस्वस्थ हो गया है और युगके प्रवाहमें स्नानकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ होना है।

चाँदनी खिल रही थी, खेल रही थी, बिखर रही थी, बरस रही थी और एक्सप्रेस दौडी जा रही थी राजधानीकी ओर। मैंने एक बार पूरी तरह चाँदनीको आँखोमें भरकर पलकोंसे पलकें मिला दी।

गरम ख़त; ठण्डा जवाब !

"गरमी खावै अपनेको, नरमी खावै गैरको !"

यह मेरे पिताजीका फार्मूला था।

"सौ गालीका एक गाला, मारी फूँक उडा।"

यह भी उन्हीका वचन है।

एक दिन उनके पास जात-बिरादरीके एक चौधरी आये और आते-न-आते गरम होने लगे। मुझे अब याद नही कि क्या बात थी। पिताजीने उनके ५-७ वाक्य सुने और तब सहज भावसे बोले—"चलो भाई, बाँयके कुएँपर चले।"

अब जिस छोटी-सी बगीचीका नाम बाँयका कुआ पड गया है, वहाँ पहले एक वापी थी। अब वहाँ मृत्युके बादका कर्मकाण्ड होता है और एक कोनेमे अखाडा है; जहाँ नगरके कुछ लोग कसरत-कुश्ती किया करते हैं। वहाँ चलनेका निमन्त्रण उन्हे सहसा पिताजीने दिया, तो वे ऐसे चौके, सोचमे पडे कि अपनी भूल गये।

अचकचाकर बोले—"क्या है बाँयके कुएपर ?"

"अखाडा है।" पिताजीने बहुत सादगीसे कहा।

"तो फिर ?"

"फिर क्या था ! तुम्हारा जी इस समय लडनेको कर रहा है और मैं हो गया हूँ बूढा, तो वहाँ इब्राहीम मिल जायगा या तोता पहलवान, उनसे तुम्हारा जोड बँधवा दूँगा। बस तुम्हारी तसल्ली हो जायगी और मेरा पीछा छूट जायगा।"

सुनते ही उन्हे हँसी आगई और हँसते ही पिताजीने चायका गिलास

उनके आगे किया। चायकी गरमीमे मिल, उनकी गरमी उनके ही पेटमे चली गई, तो वे लडते क्या ?

माँका स्वभाव गरम था। कभी वे वहुत तेज हो उठती, तो पिताजी हँसकर कहते—"अच्छा सूर्पनखाकी झाँकी फिर सजा लेना; इस समय तो कामकी बात कर।" उनके कहनेका ढग ऐसा होता कि लपटे मुस्कानमे बदल जाती।

एक दिन बोले—जब दूसरा आदमी तुम्हारी तरफ जलता अगारा फेंके, तो क्या करोगे ? गेदकी तरह उसे उचक लोगे, तो तुम्हारा हाथ जलेगा या नही ? अक्लमन्दी इस बातमे है कि तुम उसकी सीधसे हट जाओ। यही बात गुस्सेकी है।"

बात बस वही पूरी हो गई, पर आगे चलकर जब मैं सस्कृत पाटशालामे पढने गया, तो इसने जीवनमे मुझे एक बडा उपयोगी नियम बनानेमे बडी मदद की।

उस पाठशालामे एक विद्यार्थी था। बडी अजीब "हॉवी" थी उसकी। वह सबको गालियाँ भरी पर्चियाँ लिखा करता और उनके बदलेमे जब दूसरे भी लिखकर या जबानी उसे गालियाँ देते, तो वह खूब हँसता—दूसरोकी गालियोमे रस लेता और उन्हे अपनी सफलता मानता।

कई बार गुरुजीकी बेतने भी उसे दीक्षा दी, पर इससे उसने एक नया नुसखा निकाला कि बदलेमे लिखे हुए गाली-पत्र वह सुरक्षित रखने लगा और कभी उसकी शिकायत होती, तो वह उन्हे दिखाकर कहता—"ये लोग ही मुझे गालियाँ लिखते हैं गुरुजी।"

बस, इसके बाद गुरुजी तक बात पहुँचनी बन्द हो गई और पाठशालामे गालीयुद्ध पूरे जोरोसे चलने लगा। इस युद्धमे वह एक तरफ इकला और दूसरी तरफ बीसो विद्यार्थी। वे उसे छाँट-छाँटकर गालियाँ लिखते, पर वह

रोज एक-न-एक ऐसी नई गढता कि सुनारकी सौ चोटे, लुहारकी एक ही चोटमे पूरी हो जाती।

जान-पहचानके बाद एक दिन उसने मुझपर अपना निशाना साधा और एक छोटे छात्रके हाथ मुझे पर्चा भेजा। लिखा था—'मेरी कानी जोरूके भाई साहब—दूसरे शब्दोमे—मेरे प्यारे सालग्रामजी, क्या आपके पास एक नया निब है ?"

पर्चा पढकर जी भुन गया, पर तभी मुझे अपने पिताके बोल याद आये। तुरन्त मैंने एक पर्चेके साथ नया निब उसे भेज दिया। पर्चेमे मैंने लिखा था—"प्रिय भाई, आपका पत्र पढकर खूब हँसी आई। तुम तो बीरबलके अवतार मालूम होते हो। निब भेज रहा हूँ।"

यह पत्र और निब उसके लिए नया अनुभव था। शामको मुझसे मिला और लिपट गया। माफी भी माँगी। बादमे उसने मुझे कभी वैसा पर्चा नही लिखा और धीरे-धीरे उसने यह आदत ही छोड दी। एक दिन वह मुझसे बोला—"तुम्हारे पर्चेने गालियोका मजा ही किरकिरा कर दिया यार!"

इस अनुभवके बाद मैने नियम बना लिया कि गरम बोल हो, गरम व्यवहार, या हो गरम खत, उत्तरमे अपनी ओरसे गरमी गलत!

जीवनमे मै अपने इस निर्णयपर कभी नही पछताया और सच तो यह है कि मुझे जिन निर्णयोसे जीवनमे सबसे अधिक सफलताएँ मिली, उनमे एक यह भी है।

मुझे जीवनमे अक्सर गरम खत मिले है और मैने उनका ठण्डा जवाब दिया है। जवाबकी ठण्डक गरम पत्र भेजनेवालेकी गरमीको पी जाती है और वह सोचता है कि सचमुच बडी बेवकूफी होगई।

गान्धीजी ठण्डे खत लिखनेकी कलाके आचार्य थे। १९३१ मे वे

लन्दनकी गोलमेज कान्फ्रेसमे शरीक हुए। उस दिन अल्पसख्यक समितिकी बैठकमे प्रधान मन्त्री रैम्जे मैकडोनल्डने जो भाषण दिया, वह धमकियोसे भरा हुआ था। गान्धीजी उसे सुनकर भिन्ना उठे, पर चुप रहे और स्थानपर लौटनेके बाद, जब वे पूरी तरह शान्त हो लिये, तो उन्होने एक पत्र लिखकर अपना विरोध प्रकट किया। बात यह है कि जवाब वाणीका हो या कलमका, वह जितना ठण्डा होगा, उतना ही प्रभावशाली होगा।

उन्ही दिनो सम्राट् पचस जार्जने गोलमेज कान्फ्रेसके प्रतिनिधियोको अपने महलमे एक दावत दी और गान्धीजीको भी उसमे आनेका पत्र लिखा।

गान्धीजीने कई दिनतक इस पत्रका उत्तर नही दिया। बात यह है कि गान्धीजी इस तरहकी शानदार दावतोमे कभी शरीक नही होते थे, इसलिए सत्य और न्यायका पक्ष था कि वे साफ-साफ इन्कार करदे, पर सोचते-सोचते एक नैतिक पक्ष उनके मनमे आया कि मै इग्लैडका मेहमान हूँ और मेहमानको कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि उसके व्यवहारसे मेजवानके प्रति अवज्ञा प्रकट हो और बस उन्होने अपने नियमको ढीला करके निमन्त्रण पत्रके उत्तरमे स्वीकृति-पत्र लिख दिया।

यदि गान्धीजी पत्रके आते ही जल्दीसे उसका जवाब दे देते तो?

मार्च १९४४ की बात है। गान्धीजी आगा खॉ महलमे नजरबन्द थे और 'बा'की मृत्यु हो चुकी थी।

'बा'की मृत्युपर भारत सरकारके गृहमन्त्रीने जो वक्तव्य केन्द्रीय असेम्बलीमे दिया, उससे गान्धीजी सहमत नही थे, वे उसका प्रतिवाद करना आवश्यक समझते थे।

उन्होने प्यारेलाल भाईसे पत्र लिखनेको कहा, पर उनका लिखा पत्र गान्धीजीको पसन्द नही आया। गान्धीजीने स्वय पत्र लिखा। फिर उसमे

सुधार किया। तब साथियोने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमे छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमे काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमे नहाते-नहाते उसे उन्होने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमे कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमे गया।

अप्रैल १९४४मे वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नजरबन्दीमे गान्धी-जीको मिला। पत्र पढकर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमे उन्होने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीमे थे। बोले—"वह तीखा है ही नही।"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखे, तो क्या हर्ज है ?"

गान्धीजी गरमीसे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूँ तो मै नीचे उतरता हूँ और लिखूँ तो ऐसाही लिख सकता हूँ।"

रातमे डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है ? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका ?"

प्रश्नमे बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मै उसका अर्थ समझ गया हूँ।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमे साथियोने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमे सुधार वे कराते रहे।

रातमे डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नही कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नही थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि साँप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनो उसे मारनेमे सहयोगी हो जायँगे। तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योका त्यो चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होने एक नया पत्र लिखवाया और वही वेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक खतके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है?

आदमी गरम खत कब लिखता है? जब वह किसी बातसे गुस्सेमे आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो कलममे ठण्डक कहाँसे आयगी?

क्या आप चाहते है कि किसीको गरम खत न लिखे? हाँ, तो उस समय कोई खत न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमे न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिमे पढेगे, तो आपको वह मक्खियो भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाडकर दूसरा खत लिखेगे, जिसमे ताना-तनाजा एक नही, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम खत आया है और आप गुस्सेसे भर

उठे है ? हाँ, तो आप भी ठहरिये और अभी खत न लिखिये। ठहरना सम्भव न हो, तो फिर लिख लीजिये खत और फोड लीजिये उसमे दिलके छाले, पर उसे डाकमे न डालिये।

सौ बातोकी एक बात यह है कि गुस्सा आदमीको सोचने लायक नही छोडता। अब आप अगर गुस्सेमे खत लिखते है, तो वह इस लायक कहाँ है कि उसपर कोई विचार करे ? इसी तरह जब आप किसीका गरम खत पढकर गरमा गये और तभी लिख बैठे उसका जवाब तो वह इस लायक कहाँ होगा कि उसपर कोई विचार करे ?

हमेशा ठण्डा खत लिखिये, गरम खतका ठण्डा जवाब लिखिये और साफ बात यह है कि ठण्डे होकर खत लिखिये।

जब उन्होंने तालियाँ बजा दीं !

वसन्तोत्सवके मन्त्रीजी आये थे, कह गये है कि इस बारके प्रमुख वक्ताओमे उन्होने मेरा भी नाम सर्व सम्मतिसे रक्खा है। शहर भरमे लगानेके लिए उन्होने जो दो हजार पोस्टर छपाये है, उनमे भी मेरा नाम छापा गया है। अपनी फाइलमे लगा वह पोस्टर उन्होने मुझे दिखाया भी था। इच्छा तो हुई थी कि यह पोस्टर उनसे माँग लूँ, पर यह मुझे जरा हल्कापन लगा। फिर यह भी सोचा कि काहेके लिए अपनेको उनकी निगाहोमे गिराऊँ, आखिर ये दो हजार पोस्टर लगेगे तो शहरकी दीवारोपर ही—कहीसे भी चुपचाप एक उतार लूँगा। फिर यही क्या जरूरी है कि मै खुद उतारता फिरूँ गलियोमे पोस्टर। किसी लडकेको दो पैसे दिये और पोस्टर घर आ गया।

तो खैर, मैने यह अच्छा ही किया कि पोस्टर उनसे नही माँगा और मनकी बात मनमे रख ली। फिर भी मन्त्रीजीकी आँख बचाकर मैने वह पोस्टर पढ जरूर लिया था। वक्ताओमे ७ नाम थे और उनमे मेरा नाम तीसरे नम्बरपर था। प्रिंसिपल त्रिवेदी और बाबू राजकुमार एम एल ए का नाम ही मेरे नामसे ऊपर था। इसका मतलब साफ है कि मन्त्रीजी और नगरके दूसरे लोग मेरी योग्यतासे पूरी तरह परिचित हैं।

फिर प्रिंसिपल त्रिवेदी और राजकुमार एम एल ए का नाम भी उन्होने मेरे नामसे ऊपर सम्भवत उनके पदोके कारण ही छापा होगा, वरना यह भी सम्भव है कि मेरा ही नाम सबसे ऊपर रहता। वैसे तीसरा नम्बर भी क्या बुरा है। राह चलते आदमीकी निगाह जब पोस्टरपर पडती है, तो ऊपरके तीन नाम ही आँखोमे आते है।

खैर, यह तो निश्चित है कि इस पोस्टरको सारा शहर पढेगा और इस तरह इस पोस्टरसे मेरा नाम सारे शहरमे एक बार तो गूँज ही उठेगा।

यह भी एक बात ही है कि मेरा नाम बाबू राजकुमार एम. एल. ए. के बाद छपा है। कहते है कभी-कभी किस्मत इतनी दूरसे इशारा करती है कि उसे समझना हरेकके बसका नही होता। कौन जाने यह भी मेरी किस्मतका एक इशारा ही न हो!

राजकुमार एम. एल. ए. के बाद मेरा नाम छपा है, तो क्या यह सम्भव नही कि उनके बाद मुझे ही एम. एल. ए. होना हो? वे दो बार एम एल. ए. रह चुके है, अब काफी बूढे हो गये है और बिना चाहे वसन्तोत्सव-मे भाषण देनेके लिए मेरा रक्खा जाना इस बातका सबूत है कि लोग मुझे चाहते है, पसन्द करते है।

फिर असेम्बलीकी मेम्बरी कोई राजकुमारके बापका बैंक-बैलेंस नही कि वे लायक हो या निखट्टू वह मिलेगा उन्हे ही। अजीब बात है कि आदमी मौतके रथ तक भी पदोकी अर्थीपर बैठा-बैठा ही जाना चाहे। हाँ, चाहा करे आदमी स्वर्गको मुट्ठीमे ले लेना, पर चाहनेसे होता क्या है। यह जनतन्त्रका युग है। अब पद-प्रतिष्ठा खानदानोकी बपौती नही हो सकती। जी, वे दिन हवा हुए जब खलील खाँ फाख्ता उडाया करते थे। अब कुर-सियो पर आदमी आसमानसे नही उतरते, अब तो जनता जिसे चाहेगी धरतीसे उठाकर उनपर बैठा देगी।

और फिर वही भाग्यके इशारेकी बात, बाबू राजकुमारके बाद ही मेरा नम्बर है। उनके भाषणमे होता ही क्या है? वही ढाकके तीन पात, न जोशका उफान, न भावोकी कोई कडी, न सरसता ही। उनके बोदे व्याख्यानके बाद मैं ऐसा भव्य भाषण दूँगा कि वे और सभा, दोनो ही गजकर्ण होकर सुनते रह जायेंगे!

सचाई यह है कि यह निमन्त्रण वसन्तोत्सवका नही, मेरे भाग्योत्सवका ही है।

फिर सभामे कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नही जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है, तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है—बस चली की फिट और फिर देखिये तालियोकी वो गडगडाहटे, वो गडगडाहटे कि बेचारे आसमानके कान काँप उठे।

और चाल भी क्या कोई शतरज की चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ्तूँ सोचा करे सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट दाल, जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल !

लो सच बता दूँ, यह चाल कुछ मेरी अक्लका कारण नही है, यह सतीश-की सूझका तोहफा है। वह कविता-वविता तो यो ही कुछ लिखता था, पर हाँ, कवि-सम्मेलनमे जमती उसीकी थी। अरे भाई, पब्लिक यानी जनताका दिमाग भेडियाधसान है—जिधर चले कि चले और न चले तो बस ठप्प। तो सतीश अपने साथ ८-१० चेले-चाँटे ले जाता और ज्यो ही वह कविता आरम्भ करता कि वे पुन -पुन साधु-साधु और वाह-अति सुन्दरके साथ तालियोसे वातावरणको गुँजा देते और ऐसा समा बँधता, ऐसा समा बँधता कि क्या बताऊँ आपको कि दूसरोके मोती रुले फिरते और उसके गिट्टे चमक उठते।

तभी तो कह रहा हूँ मै कि सभामे कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नही जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है एक तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है बस चली कि फिट और फिर देखिये तालियोकी वो गडगडाहटे, वो गडगडाहटे कि बेचारे आसमानके कान भी काँप उठे और चाल भी क्या कोई शतरजकी चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ्तूँ सोचा करे सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट

दाल, जी हाँ चट रोटी पट दाल---इधर तीर छूटा उधर शेर घायल।

तो भाषणकी सफलता निश्चित है और यह भी कि राजकुमार बाबूको साँप सूँघ जायगा, यानी मेरा वसन्त उनका बस अन्त ही है।

वसन्तोत्सव समीप आ रहा है और मैं भी पूरे जोरोसे अपने भाषणकी तैयारी कर रहा हूँ। भाषण दे देना आसान है, पर मैं ऐसा भाषण देना चाहता हूँ कि प्रतिष्ठित पत्रोमे उसके मुख्य अश तो छपे ही, पर उसपर ज्यादा नही, तो २-४ मे सम्पादकीय टिप्पणी भी जडी जाये ।

यह कोई कठिन काम नही है। मैंने अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुषो द्वारा पढे गये कोई २०-२५ भाषण इकट्ठे कर लिये है और उनके चुने हुए अश उनमेसे काट लिये है। यह काफी कीमती मसाला है और हमारे सम्पादक लोग इसकी उपेक्षा नही कर सकते।

और यदि इन भाषणोको वे सम्पादक पहले पढ चुके हो और मेरे भाषणको चोरीका गुलदस्ता लिख दे, तो बस डूब गई नाव, यह बहुत बडा खतरा है, पर खतरेको दूरसे ताड लेना और बचाव बाँध रखना ही खिलाडीपन है।

मै भी अनाडी नही हूँ। वैसे तो मै कह सकता हूँ कि ये भाषण जिन लोगोने पढे है, कुछ उनके भी लिखे नही है---भाषणोमे तो विचारोका आदान-प्रदान देन-लेन चलता ही है, पर मै कच्ची गोलियाँ भला खेलूँ ही क्यो ?

मैंने सब विचारोकी भाषा बदल दी है---भाव अनूठे चाहिएँ, भाषा कोई होय। अब भाषा मेरी है और भाव भगवान्के। फिर भाषा और भाव दोनोसे बढकर है व्याख्यानकी भाव-शृखला। उसमे मैंने रातदिन मेहनत की है।

इस तरह व्याख्यानका मसाला तो तैयार है, पर प्रश्न यह है कि मै उसे आरम्भ कहाँसे करूँ? मैंने देखा कि हमारे प्रदेशके प्रमुख वक्ता भाई

यशपाल सिह अपना भाषण किसी शेरसे शुरू करते है और शेरके पढते ही हजारो लोगोके दिल उनकी मुट्ठीमे आ जाते है।

मैं चाहता हूँ कि कोई ऐसा शेर हो, जो लोगोको तडफा दे, बेचैन कर दे, मुग्ध कर दे, लोट-पोट करदे। इस कामके लिए मैंने कोई ५०-६० शेर इकट्ठे किये है, पर तै नही कर पा रहा हूँ कि किसे जमा दूं।

बहुत सोच-विचारके बाद यह शेर मेरे दिलमे समाया है कि यह ऐसा जमेगा, ऐसा जमेगा कि न पूछिये—शेर क्या है, दिलोका सीमेन्ट है—

असर कहते है जिसको,
वह ख़ुदाकी देन है लेकिन–
इजाज़त हो तो हम भी,
अर्ज़ कर लें दास्ताँ दिलकी।

अदब और दबाव, दोनोका वाह क्या मिलान है।

इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज़ कर लें दास्ताँ दिलकी।

शेर तो वाकई जोरदार है, पर एक बात है कि कुछ लोग शेरसे भाषणको शुरू करना ज़रा हल्कापन मानते है। तो फिर क्या करूँ? हाँ, ठीक है, स्वामी रामानन्दजीके तरीकेसे काम लूं कि व्याख्यानको किसी कहानीसे शुरू करूँ।

दृष्टात-सागरमे अच्छी कहानियाँ है और दृष्टात-समुच्चयमे भी, पर वे जरा पुराने-से ढगकी है और कुछ गम्भीर भी है। मैं कोई ऐसी कहानी चाहता हूँ कि वह ऐसी चटपटी हो कि सुनते ही जनता उसमे उलझ जाय। तो फिर ह्यूएनत्सागकी कहानी सबसे अच्छी रहेगी।

दक्षिण भारतसे एक आदमी उत्तर भारतमे आया। वह अपने पेटपर तावेके पत्तर बाँधे रहता था और सिरपर जलती हुई मशाल। उससे

लोगोने पूछा कि तुम ऐसा क्यो करते हो? उसने उत्तर दिया कि मेरे पेटमे इतनी ज्यादा अक्ल है कि मै पेटपर तावेके पत्थर न बाँधूँ, तो मेरा पेट ही फट जाये और सिरपर मशाल इसलिए बाँधता हूँ कि मेरे चारो तरफ जो लोग है, वे अज्ञानके अन्धेरेमे भटक रहे है। मुझे उनपर दया आती है और मै उन्हे यह रोशनी दिखाता हूँ।

ठीक है बस इससे ही आरम्भ करूँगा अपना व्याख्यान। बात यह है कि इससे दो लाभ एक साथ होगे। बाबू राजकुमारपर तो यह चोट हो जायगी कि कुछ तुममे ही अक्ल नही है, मुझमे भी है और जनताके लिए इसी बातको मोड दूँगा यो कि मुझे उस आदमीकी तरह अक्लका बदहाजमा नही है, मै तो आपका नम्र सेवक हूँ।

खैर, भाषण मैने ऐसा बाँध दिया है कि सुनते-सुनते लोग मुग्ध हो जाएँ और अधिक नही, तो २-४ सप्ताह तो नगरमे उसीकी चर्चा रहे, पर यह क्या बात है कि कल वसन्तोत्सव है और आज मेरा हृदय धक-धक कर रहा है। कलके उत्सवकी बात याद आते ही शरीरमे दौडता खून जम-सा जाता है।

किसी सभामे भापण देनेका यह मेरे लिए पहला दिन है, पर जैसे बातचीत, वैसा भापण। बातचीत रुक-रुककर की जाती है और भापण बिना रुके। फिर जब भापण तैयार है और उसे मैने करीब-करीब रट डाला है, तो इसमे चिन्ताकी क्या बात है—धडाधड बोलता चला जाऊँगा।

हाँ, बात तो ठीक है, बोलता चला जाऊँगा। अजी मैने यहाँतक निशान लगा लिये है कि कहाँ जोशके साथ बोलना है और कहाँ धीमेसे, कहाँ अपनेको गम्भीर रखना है और कहाँ हँसना। असल बात यह है कि भाषणमे उतार-चढाव बहुत जरूरी है।

हाँ, भापणमे उतार-चढाव बहुत जरूरी है, पर मेरे दिलमे यह उतार-

चढाव क्यो हो रहा है। ऐसी घबराहट तो मुझे पहले कभी नही हुई। सभी मानते है कि मै डरपोक नही हूँ।

फिर यह भी खतरा नही है कि भाषण बिगड जाय, क्योकि पहले तो रट मारा है, फिर कई बार बागमे जाकर उसे दोहरा लिया है और आज तो मैंने उसके नोट्स भी ले लिये है। ऐसी तरकीबसे उस पर्चेको मेजपर रख लूँगा कि मुझे एकके बाद एक पैडी दिखाई देती रहे और किसीको इस सर्च लाइटका पता भी न रहे।

मै समझता हूँ कि अब घबराहटकी कोई बात नही है।

हाँ, घबराहटकी क्या बात होती इसमे, पर थोडी-थोडी देरमे कलेजा जाने क्यो बाहरको आने लगता है। सोचता हूँ मत्रीजीको एक पत्र भेज दूँ कि तार आगया है, एक सम्बन्धी बीमार है, बाहर जा रहा हूँ, बस झगडा टटा खत्म। भाषणका क्या, ये तो आये दिन जल्से-उत्सव खडे ही रहते है।

हाँ, यही ठीक है। कौन मुसीबतमे जान फाँसे। कही ऐसा न हो कि आये थे चौबेजी छबे बनने, पर रह गये दुबे ही, यानी आये थे बेचारे नमाज बखशवाने, रोजे गले पडे।

बाहर जानेका फैसला कर लिया था, पर रात माधोकी माँ मिल गई। बुढिया टनटूमनमे मास्टर है। बोली—अरे, जबतक मै हूँ, तुझे क्या फिकर, जेठे पूतकी अगछी-टोपी दे दूँगी। जाते समय उसे जेबमे डाल लियो, बस फतह ही फतह है। चारो तरफ दुश्मन ही दुश्मन हो, तब भी सिक्का तेरा ही बैठेगा। मेरी बात झूठ निकले, तो चोरका हाल सो मेरा हाल !

मन्तर-तन्तर झाडा-फूँखी और टनटूमनमे अब लोगोका विश्वास नही है, पर हमारे बडे-बुजुर्ग क्या मूर्ख ही थे, जो इनमे विश्वास करते थे !

आखिर कोई तो बात है ही इनमे। कहते है पण्डित जयन्तीलाल

शिवाबली दिया करते थे, तो गीदडी आकर स्वय बलिको खा जाती थी। गीदडी न आये, तो वे लाखका लोभ देनेपर भी अनुष्ठान हाथमे न लेते थे और साफ कह देते थे कि तेरा काम सिद्ध नही होगा।

आज ही वसन्तोत्सव है। तीसरे दिन मैं हजामत बनाता हूँ और आज उसका दिन नही था, फिर भी मैंने हजामत बनाई। बात यह है कि हजामत भी आदमीके व्यक्तित्वको चमकाती है और व्यक्तित्वकी चमक भाषणके जमनेमे मदद देती है।

मैं कभी शेरवानी और पाजामा पहनता हूँ, कभी बुशशर्ट-पतलून और कभी कुरता-धोती। मैंने सबको अलग-अलग पहनकर शीशा देखा और अन्तमे शेरवानी-अचकनको ही पास किया। इस वेशमे एक बडप्पन है, सजीदगी है, शालीनता है।

हनुमानजीके दर्शन करने गया और उनके चरणका सिन्दूर छातीपर लगाया। इससे काफी बल मिला और घर आकर सवा रुपया ताकमे रख दिया कि आज मेरा भाषण जम गया, तो रातको ही हनुमानजीका प्रसाद बाँटूँगा।

अपने कमरेमे लेटकर मैंने भाषण दोहराया, ठीक था, घबराहट भी आज कल जैसी नही थी और सफलता अब मेरे सामने थी। समयपर कपडे पहन उत्सवमे चला, तो घरसे बाहर पैर रखते ही कही दूर शख बजा।

मेरा मन विश्वाससे भर गया। यह शुभ शकुन था—मुझे लगा कि यह राजकुमार बाबूपर मेरी विजयका शखनाद है। ताँगेमे बैठते-बैठते मैंने मनमे कहा—हे सत्यनारायण स्वामी, आपकी कृपासे आज मुझे सफलता मिल जाय, तो मैं धूमधामसे आपकी कथा कहलवाऊँगा।

मैं ठीक समय जल्लेमे पहुँच गया। मन्त्रीजीने मेरा स्वागत किया। सच तो यह है कि सब मेरी ही ओर देख रहे थे और ठीक भी है कि उत्सवका

प्राण तो वक्ता ही होते हैं। फिर वक्ताओंमे दो तो पुराने-घिसे हुए थे और चार सीखतड—आजका मुख्य वक्ता मैं ही था।

मैं कुरसीपर बैठ गया, पर मुझे फिर घबराहट उठी और मनमे आया कि उठ चलूँ, पर मैंने तभी जेबमे हाथ डालकर माधोकी माँके उस अक्षय कवचको छू लिया। इससे मुझे कुछ ताकत मिली और तभी मैंने मन ही मन कहा—हे हनुमानजी महाराज, मुझे सफलता दो। मैं आज ही आपको सवाकी जगह अढाई रुपयेका प्रसाद चढाऊँगा।

प्रिंसिपल त्रिवेदी सभापति चुने गये, इसलिए बाबू राजकुमार एम० एल० ए० ही पहले वक्ता रहे। वे बोल रहे थे, पर मैं उनका भाषण सुन न रहा था। हाँ जी, भाषण मेरे कानोमें पड रहा था, पर कलेजेमे उतर न रहा था। मैं शायद अपना भाषण सोच रहा था और शायद कुछ भी न सोच रहा था।

उनका भाषण ढीला रहा, यह मैं जरूर समझ पाया। उसमे एक भी बात नई न थी। सच यह है कि वे उन लोगोमे हैं, जो मर जाते हैं और फिर भी साँस लेना बन्द नही करते।

अब मन्त्रीजी मेरा परिचय दे रहे थे। मैं अपनी कुरसीसे उठा, तो मुझे लगा कि मेरे पैर सो गये हैं। मैंने अपनेको सम्भाला और भाषणके नोट्सकी पर्ची बाये हाथमे ले ली। मेजके पास पहुँचने ही सभापतिजीने कहा—"आइये, कितनी देर बोलिएगा ?" मैंने कहा—आधे घण्टेसे कुछ ज्यादा ही समझिये !" पर मुझे लगा कि मेरी आवाज कुछ बैठी हुई है। पिण्डलियाँ तो काँप ही रही थी।

मैंने सभाकी ओर देखा—कोई दो हजार आँखे मुझे ही देख रही थी। सहसा मेरी आँखे बाबू राजकुमारकी आँखोसे टकराईं—बस एक बडा घण्टा-सा मेरे कलेजेमें घन्न-सा लगा और यह भी कि तख्त नीचेको जा रहा है।

श्रीमान् सभापतिजी और भाइयो, मैंने कहा और तब मशालवालेकी कहानी आरम्भ की, पर जाने कैसे मेरे मुँहसे निकल पडा—मेरे सिरपर जलती मशाल बन्धी है।

बस जल्सेके लोग हँस पडे और लडकोने तालियाँ बजा दी। मेरा रोम-रोम इस तरह खेल गया कि जैसे मुझपर ये कई सौ हण्टर एक साथ पडे हो! मेरी आँखे बन्द हो गई या उनमे अन्धेरा छा गया और जब वे खुली मै पिछले कमरेमे लेटा था।

सब कुछ मुझे याद हो आया। जल्सा चल रहा था, मै चुपकेसे अपने घर आगया क्योकि अब वहाँ बैठना तारकूल लगाकर शीशेमे मुँह देखना था। जीना अब मुझे बोझ था। बोझ उठाया जा सकता है, पर जिया तो अब नही जा सकता था। हाँ मुझे मर जाना है, और क्या मरना ही बाकी है। इस सारी घटनावलीके बाद श्यामनन्द बाबूने बताया कि मेरा सिर फटा जा रहा था। मुझे याद आई सारीडनकी गोली और, और शेरीडन—इगलैण्डका राजनीतिज्ञ। वह जब पहली बार पार्ला-मेण्टमे बोला, तो घबरा गया। पत्रकारोने उससे कहा—"कोई और काम कीजिये आप", पर जब वही वारेन हेस्टिसके विरुद्ध पार्लमिण्टमे बोला, तो प्रसिद्ध वक्ता फाक्सने कहा—"ऐसा भाषण कामन्स सभामे आजतक कभी नही हुआ।"

मैने सोचा-मै मर जाऊँ? मेरे साहसने उत्तर दिया कि ना, मै मरूँगा नही और अपने नये-नये प्रयत्नोसे नई सफलता पाऊँगा और एक दिन शेरीडनकी तरह यशस्वी हूँगा।

उस बेवक़ूफ़ने जब मुझे दाद दी !

मेरी जन्मभूमिके एक सज्जनने उस दिन मुझसे अपनी बेटीके विवाह-का निमन्त्रण लिखवाया। वर्षभरमे दस-बीस-पचास निमन्त्रण लिखता ही हूँ, उनका भी लिख दिया।

इस बेटीके श्वसुर समयकी बात साहित्यिक रुचिके थे और पत्रोमे मेरे लेख पढ चुके थे। वे जब बेटेकी बारात लेकर आये, तो स्नेहपूर्वक मेरे घर पधारे।

मै उनके अनुरोधपर उनके पुत्रको आशीर्वाद देने गया और यो उनके साथ उनके घर जा पहुँचा, जिन्होने मुझसे निमन्त्रण-पत्र लिखाया था।

जब उन्होने जाना कि उनके सबधी मेरे घर गये थे, तो मनमे माना कि उन्हे मेरी प्रगसा करनी चाहिए और अपने सम्बन्धीकी ओर देखकर बोले—"लाला जी, हमारे पण्डितजी बडे विद्वान् है, मुन्नीके विवाहकी चिट्ठी हमने इनसे ही लिखवाई थी। ये बहुत अच्छी चिट्ठी लिखते है।"

मैने अनुभव किया कि सम्बन्धीजीको उनकी बात भली नही लगी और उनके जाते ही वे बोले—"बेवकूफ है।"

मैने कहा—"आपके वे सम्बन्धी है, चाहे जो कहिये, पर मेरी लिखाई की तो दाद वे दे ही रहे थे।"

बोले—"बेवकूफकी दादसे भगवान् बचाये।"

बचपनमे पिताजीने एक सस्मरण सुनाया था। वह अनायास स्मृतिमे चमक उठा—एक डिप्टी थे कालेराय। अफसरीके सब दोषोसे दूर और गुणोसे भरपूर। उनकी अदालतमे दो भाइयोका मुकदमा आया, जिसमे चतुर छोटे भाईने, सरल बडे भाईका सब कुछ दबा लिया था और अपमान भी किया था।

कालेरायने दूधका दूध और पानीका पानी कर दिया, तो फैसला सुन-कर बडा भाई भरी अदालतमे बोला—"अरे डिप्टी साहब, तेरा बाप भी सुसरा गधा ही था, जो तेरा नाम कालेराय रख दिया—तू तो पूरा धोले-राय है।"

पाँच-सात दिन बाद भाई ब्रह्मानन्द जी आ गये—शास्त्रीय सगीतके वर्चस्वी साधक। आचार्य जगदीशचन्द्रने कुछ मित्रोसे चर्चा कर दी और दूसरे दिन एक प्रतिष्ठित बन्धुके यहाँ रातमे एक सगीत-गोष्ठीका आयो-जन हो गया।

समयपर हम लोग वहाँ पहुँचे, तो देखा कि नगरके कुछ शिक्षित बन्धु-ओके साथ दुलारा सुनार भी बैठा है। दुलारेका गला अच्छा है और अपने यार-दोस्तोमे गायक माना जाता है।

सगीतका उसे ज्ञान नही, ताल-स्वरका अता पता वह नही जानता, कुछ रसीली गज़ले और गलेका लोच ही उसका आरकेस्ट्रा है, जिससे वह मित्रोका मनोरजन कर देता है।

सितारपर कलाकार ब्रह्मानन्दकी उगलियाँ इठलाई कि बागेश्वरीकी धुन झकारपर थिरक उठी। बरसो बीत गये, पर लगता है आज भी वह धुन कानोमे समाई है। ब्रह्मानन्दजीकी मुद्रा दर्शनीय थी, लगता था कि उनकी आत्मा सितारके तारोमे समाधिस्थ हो गई है।

तभी कानोमे एक सुई चुभ गई—"लो टुन-टुन तो सुन ली पण्डितजी, अब इनसे कुछ गाना-वाना सुनवाओ।" यह उस मनहूसकी आवाज़ थी, जिसके घरपर हम बैठे थे। मैंने कडवी आँखोसे उन्हे देखा, तो वे दबे। तभी फूटे कलाकारके बोल और बस जड तारोकी धुनसे चैतन्य कण्ठका स्वर मिल, यो इठला उठा कि प्रकृति और पुरुषका युगल विहार कर रहा हो।

राग उठा, उभरा, इठलाया और अन्तरिक्षमे बिखरकर कलाकारके मानसमे समा गया। ब्रह्मानन्दके माथेपर सरदीकी उस ऋतुमे भी श्रम-मोती झलक आये, सितार उन्होने रख दिया।

एक-दो बीमार गलोसे मरी-सी वाह्-वाह् निकली और शेष सब शान्त रहे, शान्त क्या, वे भी थक गये थे—अपने अज्ञानसे, अज्ञानकी प्रतिक्रियासे !

तभी एक आवाज आई—"अच्छा साहब, अब दुलारेकी भी एक चीज हो जाय !"

"जरूर जरूर" यह मिला भरा पूरा समर्थन !

दुलारा सकोचसे दोहरा हो गया—"अजी, भला हसके सामने काली चिडियाकी क्या बिसात, पण्डितजीसे ही एक और चीज सुनिये !"

वह लाख सगीतज्ञ नही था, पर कनरसिया तो था ही, चीजको समझता था, पहचानता था !

तकाजेने जोर पकडा, दुलारेके सामने जगह हो गई और वह खँखार ही रहा था कि किसी स्वयम्भू निर्देशककी वाणी सुन पडी—'हाँ दुलारे, ऐसी हो कि कलेजा चीरती चली जाये !"

दुलारेके बोल खिले—

> उसने कहा तू कौन है, मैंने कहा शैदा तेरा !
> उसने कहा चाहता है क्या मैंने कहा शौदा तेरा !!

वाह्-वाह्ने कमरा गूंज गया और इस तरहके रिमार्क भी—क्या कहने ! शैदामे सौदा क्या मिलाया है !

ब्रह्मानन्दजीने एक राग और गाया, दुलारेकी एक गजल और हुई और गोष्ठी खत्म।

चलते-चलते एक सज्जन मेरे कानमे बोले—"तुम्हारे सितारजीको हमारे दुलारेने पहले ही दावमे उखाड दिया पण्डितजी !"

मैने आँख फाडकर उधर देखा—यह बैल बी० ए०, एल-एल०-बी० था।

हम इस तरह चुपचाप घर पहुँचे और सो गये कि तीनो ही कही पिट-कर आये हो, पर प्रात उठे ही थे कि दुलारे आ पहुँचा। अगोछेमे लपेटे फल उसने सामने रक्खे और ब्रह्मानन्दजीके पैर छूकर बोला—"इन लोगोके भागसे हमारे कानोमे भी कल आपके बोल पड गये। पण्डितजी, मै रात भर नही सोया, आपकी आवाज मेरे भीतर गूँजती रही!"

मैं ने उसे जरा गहराईमे उतारा—"लेकिन वहाँ रात गाना तो तुम्हारा ही जमा दुलारे भाई!"

दुलारेने आँखे बन्दकर दोनो हाथोसे अपने कान पकडे, जीभ बाहर निकाल दाँतोमे दबाई और तब कहा—"राम राम, कहाँ गलीकी नाली, कहाँ मन्दिरका कलश; आप भी क्या बात कहते है!"

विद्वान् मूर्खोके बाद, यह एक मूर्ख विद्वान्का सम्पर्क था।

दुलारे चला गया, तो मुझे लगा कि गन्दे कमरेमे झाड़ू देनेके बाद अभी-अभी मै मुँह-हाथ धोकर उठा हूँ।

× × ×

तबकी बात है, जब दिल्लीमे लाल किलेके सामने लाजपतराय मार्केट नही था और वहाँ आम जल्से हुआ करते थे।

उस दिन रातमे उधरसे निकला, तो खुले आकाशके नीचे मशायरा हो रहा था। जरीका चोगा पहने कोई नबाब साहब सदर थे। हजारो आदमी बैठे थे और हजारो खडे, जैसे जल्सेकी जी-जागती चारदीवारी हो यह!

मै भी खडा हो गया और खडा होते ही मुझतक जो कुछ आया, वह किसी शायरकी तरन्नुमके लहरेसे तर आवाज न थी, केवडेके इत्रकी मदमस्त खुशबू से भरा हवाका हल्का झोका था।

मेरे ठीक सामने एक नौजवान, चिनी हुई दुपल्ली टोपी और चिकनके कुरतेमे उनके कपडे इत्रमे बसे थे या वे स्वय, मै नही कह सकता, पर उनसे वहॉका वातावरण महक रहा था, इसमे सन्देह नही।

तभी उन्होने एक शेरपर बढकर दाद दी—"वाह, क्या शेर है; वल्लाह, गालिब मरकर दुबारा जिदा हो गया है।"

चौककर मैने उनकी तरफ देखा और तब—"इस शेरकी बारीकी क्या है भाई जान ?"

बोले—"अरबी-फारसी अलफाज (शब्दो) से शेर इस कदर सकील (गरिष्ठ) हो गया है कि मानी गुम है।"

"तो फिर आपने दाद किस बातकी दी ?" मैने पूछा तो तुनककर बोले—"अजब दहकानी (गवाँरू) सवाल है आपका, अरे मियाँ दाद देनेसे मशायरेका समा बँधता है।"

तबतक शायर साहब अपना दूसरा शेर पूरा कर रहे थे। कुछ सुना, कुछ बे सुना और पूरा-का-पूरा बे समझा, पर मैने उभरकर लम्बे हाथो दाद दी।

वे मेरी तरफ विजय भरी आँखोसे देखकर बोले—"फरमाइये जनाब, दादसे समा बँधता है या नही ?"

मैने कहा—"बेशक।" और उन्होने फौरन मेरी तरफ पूरी तरह मुडकर बडे तपाकसे हाथ मिलाया और मुझे अपनी बराबरीमे ले लिया।

मैने सोचा—मशायरेका समा बँधे न बँधे, बातचीतका समा तो बँध ही गया !

× × ×

लोकजीवनमे एक कथा प्रचलित है कि वनकी यात्रामे एक ऋषिको एक अमृतफल मिला। इसे कोई वन्ध्या भी खा ले तो पुत्रवती हो। ऋषिने कृपालु हो, पासपड़ौसकी एक वन्ध्या जुलाहीको वह फल दे दिया।

हाथमे फल लेकर जुलाही बोली—"मेरे घरमे इस फलसे बेटा हो गया, तो तुम्हे गाढेकी एक चादर दूँगी ऋषिजी !"

× × ×

उस दिन हम लोग एक कालेजके कवि-सम्मेलनमे गये। कवि-सम्मेलनके बाद चाय-पानी हुआ। श्री रतनलाल 'चातक' ने सभापतित्व किया था। कालेजके प्रिंसिपल उनसे बोले—"चातक जी, आप कविताको पढते खूब है।"

चातकजी चूकनेवाले कहाँ? तडाकसे बोले—"जी हाँ, कवितामे तो कुछ होता नही, इसलिए गा-बजाकर ही आपको रिझा लेता हूँ।"

अट्टहासोसे कमरा ऐसा गूँजा कि प्रिंसिपल साहब झक हो गये!

× × ×

हर बातका एक मास्टर पीस होता है; बस अब इस शृखलाका मास्टर पीस सुन लीजिये।

बगलौरके काग्रेस-महासमिति-अधिवेशनमे प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरूको चारो खाने चित कर, पण्डित द्वारकाप्रसाद दिल्लीके तख्तका सपना देख रहे थे कि भाग्यका तख्ता उलट गया और वे मध्यप्रदेशकी अपनी मिनिस्टरी भी खो बैठे।

अतीतमे डा० खरे भी मध्यप्रदेशका मुख्यमन्त्रीपद, कुछ इसी तरह गलत चाहके चक्करमे खो चुके थे, इसलिए डाक्टरने मिश्रको तारसे दाद दी, जो कुछ इस प्रकार थी—मुझे प्रसन्नता है कि तुम मेरे चरण-चिह्नोपर चल रहे हो!

× × ×

व्यक्तिके असाधारण गुणोको छोडकर उसके साधारण गुणकी कभी दाद मत दीजिए।

उस बेवकूफने जब मुझे दाद दी !

साधारण बातपर असाधारण दाद मत दीजिये,
असाधारण बातपर साधारण दाद मत दीजिये,
अपनेको स्वय कभी दाद मत दीजिये,
यही यह भी कि हमेशा नपी-तुली दाद दीजिये,
सही स्थान पर और सही रूपमे दाद दीजिये,

और याद रखिये कि आपकी दाद एक तराजू है, जिसपर वही नही तुलता, जिसे आप देते है, आप भी तुल जाते है!

रहो खाट पर सोय !

"शामका यह सुहावना समय और तुम अपनी इस कोठरीमे पडे किताब-के पन्ने चाट रहे हो। यह अजब बेवकूफी है। उठो और ज्यादा नही, तो कम-से-कम पासके ही पार्कमे घूमते-घामते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"जी, शामका यह सुहावना समय और तुम खामखा मेरी कोठरीमे घुसे मेरे पुस्तक पढनेके आनन्दमे मूसलचद बन रहे हो। यह अजब बेवकूफी है। उठो और ज्यादा नही तो कमसे कम बाहरकी सडकपर ही घूमते-फिरते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक स्वास्थ्य-विज्ञानकी बात और तुम ले उडे उसे मजाकमे और फिर मजाक भी हल्का कि हमारी ही बात हमपर फिट कर रहे हो। यह अजीब मनमानी है तुम्हारी !"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक जीवन-विज्ञानकी बात और तुम ले उडे उसे मजाकमे। अच्छा रहने दो अब और आगे नही कहता। वरना तुम कहोगे कि यह मेरी ही बात मुझपर फिट कर रहा है।"

"तो शामके समय अपनी कोठरीमे घुसकर खटियापर पडे, पुस्तक पढकर स्वास्थ्य खराब करना भी एक जीवन-विज्ञान है, क्या अजीब मन-मानी है।"

"जी हाँ, शामके समय कोठरीमे घुसकर खटियापर पडे पुस्तक पढना भी जीवन-विज्ञान है, पर मै यह स्वीकार करनेमे भी शरमाऊँगा नही कि यह

अधूरा जीवन-विज्ञान है और लीजिये तुम्हे नये प्रश्नोकी मशक्कतसे बचानेको यह भी बता दूँ कि यह पूरा तब होता जब मै यहाँ खटियापर पडे पुस्तक पढता नही, खुर्राटोके साथ सोता तुम्हे मिलता।"

"वाह मेरे शेर, क्या छलाग मारी है तुमने कि शामके समय श्रीमान् जी सोते मिलते, तो जीवन-विज्ञान पूरा हो जाता। अरे मियाँ, यह क्यो नही कहते कि खटियापर मरे मिलते, तो जीवन-विज्ञानमे चार चाँद ही लग जाते !"

"इसमे न वाहकी जरूरत है, न आहकी, वात तो सिर्फ इतनी है कि तुम्हे हो गई है अक्लकी वदहज्मी और मै बात कर रहा हूँ अक्लकी, जिसे तुम पचा नही सकते, पर खैर, अब मेरी कोठरीमे आ गये हो, तो तुम्हारी खोपडीमे भी यह जीवन-विज्ञान उतरना ही पडेगा।"

"कैसे ?"

"कैसे क्या था इसमे ? बस हकीम तुलसीदासकी हाजमेकी गोली देनी पडेगी तुम्हे, और जहाँ वह गोली तुमने जरा पपोली, चूसी कि तुम्हारे दिमागके किवाड इस तरह खुल जायेगे जैसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे कभी सजयके खुल गये थे।"

"यह सब क्या छौक लगा रहे हो तुम ?"

"छौक-वौक कुछ नही, बस गोली तैयार है और अब तुम भी तैयार हो जाओ। डरो मत, यह थ्री नाट थ्री नही है कि जागतोको सुला दे, यह वो गोली है जनाब, कि सोतोको जगा दे और जागतोको चला दे।"

"तो फिर जो होगा देखा जायगा, चलाइये अपनी गोली, हम भी छाती खोले तैयार है।"

"जी, इस गोलीमे छाती खोलनेकी जरूरत नही पडती, क्योकि तुलसी-दासकी यह गोली सीधे छातीपर नही पहुँचती, कानोकी राह छातीमे उत-रती है।"

"तो यह बात है?"

"जी हाँ, यह बात है, अच्छा तो कान खोल लो, वह गोली आ रही है और गोली क्या है सत तुलसीदासका ज्ञानामृत है कि"**तुलसी भरोसे राम-के रहो खाटपर सोय।**"

सुन लिया तुमने अजी, सुन लिया तुमने कि सन्त कवि तुलसीदास जी किस्मतकी बात है कि अकलके मामलेमें तुमसे इच दो इच आगे ही हैं, जीवन-विज्ञानका यह सार कह गये है कि भाई, झगडे-झमेलेमे मत पडो और आरामसे खाटपर पडकर सोओ। अब बताओ कि अपनी कोठरीमे खाटपर पडा मैं उनकी बातका आधा पालन तो कर ही रहा हूँ, फिर तुम इस तरह क्यो चिचिया रहे हो कि जैसे मैंने किसीकी जेब काट ली हो और तुम कोई पुलिस इन्सपेक्टर हो!"

"भई, यह तो तुमने गजबकी गोली खिलाई और इससे वाकई दिमाग के किवाड खुले जा रहे है, पर यह तो बताओ कि सचमुच यह तुलसीदासके दवाखानेकी है या भले आदमी, घरमे घोटकर उनका लेबिल लगा दिया है तुमने। आजकल यह मर्ज बुरी तरह बढ रहा है, कही छूतकी इस झपे-टमे तुम भी तो नही आ गये?"

"जी नही, यह सौ-टका तुलसीदासकी गोली है और देखते नही आप कि ऐसा विशाल अनुभव और है ही किसे, जो एक लाइनमे सारी गीता कह दे?"

"अच्छा जी! तो इस लाइनमे सारी गीता कह दी गई है? भाई, सच बात यह है कि तुम्हारी गोलीसे हमारे दिमागके किवाड तो खुल गये है पर कमरा अभी खाली ही है।"

"घबराओ मत भाई जान, जब कमरा खुल गया है, तो उसमे ज्ञान-पुरुषका पदार्पण भी होनेवाला ही है, और लो, होनेवाला क्या है, हो ही रहा

है। तुलसीदासके इस हिन्दी वचनपर उर्दूके एक ज्ञानीने अपना प्रवचन किया है। उसे तुम सुनो तो शायद सब कुछ ही पा जाओ। वह कहता है—

"एहसान नाखुदाका उठाए मेरी बला !
किश्ती ख़ुदा पे छोड दूँ लंगरको तोड दूँ !"

कुछ आया तुम्हारी समझमे या अब भी नासमझीका ही दौर-दौरा है ? हाँ, तो लो अब तुम्हे अ आ इ ई की तरह ही पढाना पडेगा। अरे भाई, लगन-मुहूर्त देखकर, साफ-सुथरी मजबूत नावमे बैठकर, अच्छे मौसममे मल्लाहकी मददसे पार उतर जाना मामूली बात है और यह कोई भी कर सकता है। इस मामूलीसे ऊपर एक गैर मामूली-असाधारण बात यह है कि आदमी मल्लाहका भरोसा न करके अपनी ही ताकतका भरोसा करे और पार उतर जाये, पर यह ज्ञानी कहता है कि यह भी एक घटिया बात है, असली बात तो यह है कि मल्लाहसे बात न करे, नावके बारेमे सोचना बन्द कर दे और नावको पानीमे उतारकर उसमे सो रहे, बस वही तुलसीदासका वचन "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय", यानी खाट न सही, नाव सही, तुम खुर्राटोका मजा लो, डोलती-हिचकोलती नाव अपने आप किनारे लगेगी और लगेगी क्या यो ही, लगायेगा लगानेवाला !"

"और क्यो जी, जो लगानेवाला न लगाये नावको पार और मझधार-मे कर दे, डुबक-डुबक, डुम-डुम, तो क्या हो ? बस करो बेटा, पाताल लोककी सैर ! यह वचन भी खूब रहा और उसका प्रवचन भी खूब रहा, मतलब यह कि चढ जा बेटा शूलीपर राम भला करेगा। अरे भाई, राम क्या भला करेगा, तेरे प्राण-पखेरू फुर्र हो जायँगे। भूख अपने पेटमे और रोटी दूसरेके हाथ; उसने समयपर टुकडा दिया, दिया, न दिया, न दिया। भला, यह भी कोई बात हुई !"

"दिया किस तरह नही? दिया और इस तरह दिया कि लेनेवालेका सिर ऊँचा रहा। हमारे देशके एक-दो नही, अनेक भगत गा गये हैं कि—

'होंगे दयाल तो देंगे बुलायके !
लेने कौन जायेगा, देंगे घर आयके ! !

घर आकर देना, कोई कल्पना नहीं है, मेरे भाई, ख्याली पुलाव भी यह नही है। हाँ, यों कह सकते हो कि यह जीवनका एक चमत्कार है। फिर यह चमत्कार कोई सन्तोंकी ही बपौती नही, मेरे जैसे साधारण मनुष्यने भी अपने जीवनमे यह चमत्कार देखे है। युगपुरुष गान्धीजीने कहा था कि जहाँ सत्य होता है, वहाँ चमत्कार भी होते हैं।

अब कहो, तुलसीदासका वचन, जीवन-विज्ञानका अमृत है या नही? यह अमृत मनुष्यको भिखारी होनेसे रोक देता है और उसे अपनी आँखोमें हीन नही होने देता। यही नही, उसमे एक ऐसी बेफिक्री पैदा कर देता है कि फिक्र, प्यास, तृष्णा, ईर्ष्या, मानसिक हीनता और इसी तरहके दूसरे दोष उसके पास नही फटक पाते। उसमे स्वाभिमान इस सीमातक उत्पन्न हो जाता है कि माँगते ही मिल जानेका अखड विश्वास होनेपर भी वह किसीसे नही माँगता और साफ कह देता है—

'यह गवारा न किया,
दिलने कि माँगूँ तो मिले।
वरना साक़ीको,
पिलानेमें कुछ इन्कार न था।'

हाँ, बिना माँगे ही उसकी जरूरत पूरी हो जाती है और जीवनमे कभी ऐसा अवसर भी आता है कि वह प्यासा ही रह जाये, उसे कुछ न मिले,

तब भी उसे दुख नही होता कि मुझे यह मनचाही चीज क्यो न मिली। तब भी वह तुलसीदासकी बात मानकर अपनी खाटपर खुर्राटे खेंचता रहता है, क्योंकि उसका विश्वास उससे कहता है कि तेरी माँगमे—तेरी चाहमे ही कही कुछ भूल है और वह अपने रामसे कह उठता है—

'तेरे करममे कभी कुछ नहीं, करीम है तू,
कुसूर मेरा है, झूठा उम्मीदवार हूँ मै !'

इसका एक नमूना मै अपनी आँखो देख चुका हूँ और तबसे 'रहो खाट-पर सोय' की फिलासफीमे मेरा तो अखड विश्वास हो गया है।

मेरे एक मित्र अपने लिए एक मकान चाहते थे। उन्हे सचमुच मकानकी जरूरत थी और इसे सभी मानते थे। बहुत दिनोके बाद एक मकान उनके नाम अलाट हो गया, पर तभी कुछ लोगोने उसमे अडगा लगा दिया। ये लोग इतने धूर्त थे कि वह सरल मित्र उसमे उलझ गया और मकान न पा सका। मित्रको मकान तो मिला ही नही, उनकी बेइज्जती भी हुई, क्योकि मकानके मामलेको प्रतिष्ठाका प्रश्न बना दिया गया था, पर वे अब भी शान्त थे। उन्हे देखकर आश्चय होता था। उहोने कहा—मकान मुझे मिलना चाहिए था, यह ठीक है और उसका न मिलना अन्याय है, यह भी ठीक है, पर भगवान् जाने इसीमे मेरा हित हो !

हम सबने कहा—"यह सब तो मजबूरीका सन्तोप है भाई साहब।" पर वे मुसकराते रहे। बादमे एक दिन हमने सुना कि बरसातमे उस मकानकी एक छत गिर गई और कई आदमी उसमे दबकर मर गये। उन्होने हम सबसे कहा—"कहो, मकान न मिलनेमे ही हित निकला या नही ?" सचमुच वह मकान उन्हे मिला होता तो, आज हम समाचार सुननेकी जगह एक मर्मवेधी दृश्य देखते !"

"सचमुच भैया, तुम्हारे तुलसीनामकी यह खाट-फिलासफी तो एक बडे कामकी बात मालूम होती है।"

"बडे कामकी? अजी, इनसे भी बढकर बडे-बडे कामोंकी है यह बात भाई साहब! लो एक लोक-कथा सुनाता हूँ तुम्हे, जिसे सन्त तुलसीके तत्त्वज्ञानकी बस व्याख्या ही समझो।"

एक राजा था। एक उसका वजीर था। वजीर हर बातमे कहा करता 'अच्छा ही हुआ।' राजाका बेटा एक दिन अपना पहला शिकार खेलने गया। वहाँ शेरने पजा मार कर उसका दाहिना अगूठा उडा दिया। जब दरबारमे उसका जिक्र हुआ, तो वजीर बोला—'अच्छा ही हुआ।' राजाको गुस्सा आ गया। राजाने कहा—'जा निकल जा, मेरे राजसे।' वजीरने कहा—अच्छा ही हुआ और वह दूर चला गया। कुछ दिन बाद भील लोग उस राजकुमारको उठा ले गये और एक खम्भेसे बाँधकर उसे काली माईकी बली देने लगे। जब भीलोका गुरु राजकुमारके गलेपर छुरा रखने लगा, तो उसने वो कटा हुआ अगूठा देखा। चिल्लाकर गुरु बोला—"छोड दो इसे, यह तो खडित है।" राजकुमार छूटकर घर आया, तो राजाने कहा—देखो, उस दिन वजीरने ठीक ही कहा था कि अच्छा ही हुआ। राजाने आदर-मानके साथ वजीरको बुलाकर उसे फिरसे ओहदा दिया।

क्या तत्त्व है इस लोक-कथाका? बस यही कि आदमी नही जानता कि किसमे भला है, किसमे बुरा है। और बात यह है कि आदमी सिर्फ आजको देखता है, कलको नहीं, पर अनुभव यह है कि आजकी बुराईमे कभी-कभी कलकी भलाई छिपी रहती है। कटे अगूठेने ही राजकुमारकी जान बचाई या नही?

तो भाई साहब, आजसे तुम भी हमारे गुरु तुलसीदासके चेलोमे अपना

नाम लिखा लो और यह गुरुमन्त्र कंठ कर लो—"तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय" ! फिर सुन लो एक बार यह गुरु-मन्त्र "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय" और लो, अब साफ-साफ कहो कि अब तो हमारे गुरु-भाई बननेमे तुम्हे कोई ऐतराज नही है ?"

"क्या बताऊँ मेरे दोस्त, सचाई यह है कि तुम्हारी यह बात तो मेरी भी खोपडीमे बैठनी जा रही है, पर सच बताओ, इसे माननेमे कोई खतरा तो नही है ?"

"खतरा ? खतरा इसमे बहुत बडा है ।"

"खतरा इसमे बहुत बडा है ?"

"हाँ इतना बडा कि आदमीको जीतेजी मुर्दा बना दे। लो सुनो, तुम्हे इसका अन्धेरा कोना भी दिखाता हूँ। आदमी अगर राम भरोसे नही आलस्यके सहारे खाटपर पड सोये, तो ऐहदी हो जाता है और ऐहदीपन आदमीकी पराजय है, कोई विजय नही !

राम भरोसे खाटपर सोनेका मर्म भी लो, चलते-चलाते तुम्हे बता दूँ। यह मर्म है आदमीका यह विश्वास कि बुरा तो कभी हो ही नही सकता, सब कुछ भला ही भला है। अब वह कर्मोंके फलकी चिन्तामे ही नही, प्रभावसे भी बच जाता है। अब तो वह एक यात्री है,जिसे अपनी राह चले चलना है। बस बिना रुके, बिना झुके, चले ही चलना है, यानी उसकी नज़र इसपर नही कि जीवनमे मुझे क्या मिला और क्या नही। बस, उसके देखने-सोचनेकी सीमा तो यह है कि मै जिया किस तरह—मेरे जीनेमे कोई खोट तो नही, कोई कमी तो नही, कोई कुरूपता तो नही।"

जब मैंने नया पोस्टर पढ़ा !

आज बाहरसे आया, तो देखा प्रेसके बाहर जो नया पेशाब-घर बनाया गया है, उसकी दीवारपर छपे हुए २-३ कागज लगे है। छपाई मोटी। दूरसे ही पढा--

यह पेशाबघर केवल प्रेसके कर्मचारियोंके लिए है।

बार-बार मैंने उसे देखा और बार-बार उसे पढा। देखते-देखते ही कुछ क्षणमे मुझे लगा कि यह पोस्टर मेरे कलेजेपर चिपका है, दीवारपर नही और उससे मेरे फेफडे ठीक काम नही कर पा रहे है।

सीधे मै प्रेसमे गया और पूछा कि यह पोस्टर किसने तैयार किया है?

मेरे पुत्र अखिलेशजी बैठे थे। बोले--तैयार तो मैंने ही किया है।

अपनी बातको उपदेशकी कोटिमे जानेसे रोकनेको मैं ज़ोरसे हँस पडा, और वातावरण जब मुलायम हो गया, तो मैंने कहा--"क्यो भाई, बहुतसे लोगोने दूसरोके आरामके लिए धर्मशालाएँ बनवा दी, कुछने कुएँ खुदवा दिये, पर तुम्हे यह भी स्वीकार नही कि तुम्हारे पेशाबघरमे आते-जाते लोग अपनी जरूरत पूरी कर ले, जबकि इससे तुम्हारा न एक पाई खर्च बढता है, न काम रुकता है, न कोई दूसरा ही नुकसान होता है।" अखिलेशजी उठे और उन्होने तुरन्त वह पोस्टर दीवारसे खुरच दिया और यो यह पोस्टर-काण्ड समाप्त हो गया।

अब मै अपनी कोठरीमे हूँ और देख रहा हूँ कि वह पोस्टर दीवारसे उतरकर भी मेरी खोपडीके भीतर चिपका है। फिर जब दांतोमे तिनका है, तो जीभ कैसे चुप बैठे और खोपडीमे खुरचन है, तो फिर मेरा कहा मानकर वह मेरे काममे कैसे लगे?

अच्छा, तो क्या है जी, वह खुरचन,

खुरचन यह है कि आखिर किसीके दिमागमे यह पोस्टर लगानेकी बात उपजी ही क्यो ?

सोचते-सोचते ध्यान आया कि अखिलेशजीके घरके सामने ही स्टेट बैंक है और उसके पेशाबघरकी दीवारपर लिखा है—

"सिर्फ बैंक कर्मचारियोके लिए।"

बस, कुन्जी हाथ आ गई कि बैंकके उस नोटिसको आते-जाते अखिलेश-जी देखते रहे और भीतर ही भीतर उसकी छाप उनके मनपर पडती रही और यो एक दिन यह पोस्टर तैयार हो गया।

सहसा मेरे मनमे आया कि यह घटना विज्ञापनके महत्त्वपर कितना पैना प्रकाश डालती है। एक ही बात बार बार सुनते-देखते मनपर एक सस्कार बन जाता है और वह सस्कार तब हमारे कार्यका सचालन करता है। चायका प्रचार भी विज्ञापनके सहारे हमारे देखते-देखते हो गया और सिग-रेटका पहले हो गया था। सिनेमाके हर खेलके लिए जो विज्ञापन होता है, वह हम देखते ही है।

मेरे मनमे एक सुई-सी चुभी—बुरी चीजको आवश्यक बनानेके लिए, जब इतने विज्ञापनकी आवश्यकता है, तो अच्छी चीजको, बुरोके मनमे अभी जिसकी माँग नही है, आवश्यक बनानेके लिए कितने विज्ञापन और प्रचारकी आवश्यकता है ! पडित नेहरूकी चीन यात्रासे लौटनेपर उनकी पुत्री श्रीमती इदिरा गाँधीने एक पत्रकारसे कहा कि "मुझे चीनकी सबसे बडी विशेषता यह लगी कि वहाँके लोगोमे अपने देशकी शक्ति बढा-नेके लिए अत्युत्साह है।"

पत्रकारने ठीक ही पूछा कि इस उत्साहका स्रोत क्या है ? जन-जनमे यह उत्साह कैसे पैदा हुआ ?

उत्तर मिला—"इसका एक मुख्य कारण है निरन्तर प्रचार।"

इस प्रचारका उन्होंने एक बहुत ही सूक्ष्म उदाहरण दिया कि बिल्कुल छोटे बच्चोमे सामूहिक जीवनके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेके लिए जिस प्रकारकी कहानियाँ सुनाई जाती है, उसका एक नमूना यह है —

कुछ चिडिये एक साथ उडी जा रही थी। एक चिडिया पीछे रह गई और खो गई। इसकी मददके लिए दूसरी चिडिये आई और उन्होने उसे परेशानीसे बचा लिया।

मेरे भीतर निरन्तर जागते प्रचारकको नई स्फुरणा मिली, पर मेरे प्रचारकके हाथ-पैर भले ही प्रचारकके हो, उसकी आत्मा विचारककी है। वह भले ही सफलताकी चाह करे, खोज तो उसकी सत्यके लिए ही होती है।

प्रचारकके शान्त होते विचारक उद्बुद्ध हुआ —स्टेट बैंकवाले हो या फिर विकास प्रेस वाले, उनके मनमे यह कामना क्यो उठती है कि उनकी वस्तुका कोई दूसरा उपयोग न करे ?

हरेक अपने धन-वैभवपर, अपने मकानपर, सामानपर अपना ही कब्जा चाहता है और उसे यह गवारा नही कि उनपर कोई दूसरा हाथ रखे, पर अपनी कोई हानि नही और दूसरोको लाभ, इस सौदेमे भी आदमी क्यो कृपण हो ?

प्रश्नका उत्तर तुरन्त न मिला, तो मन उसकी खोजमे निकल पडा और जा पहुँचा श्रीरामचन्द्र शर्मा 'महारथी'के घर। शर्माजीका घर जाने कितने मित्रोकी धर्मशाला रही है, पर उस दिन उनके जीनेसे चढा, तो देखा कि उनके शौचालयपर एक ताला लगा है। सोचा-घरका द्वार खुला है और शौचालयपर ताला लगा है, यह एक अजीब नक्शा है।

बातो-बातोमे बच्चोको टटोला, तो पता चला कि आस-पासके लोग रात-अँधेरेमे घुस आते है। सोचा कि यह बात बुरी है, पर सोचा कि इसमे बुराई क्या है ? शौचालय फ्लशका है, इसलिए आस-पासके लोग सम्भ-

वत जिन्हे अपने शौचालय सुलभ नही है, किसी पडौसीके शौचालयका उपयोग कर लें, तो क्या यह कोई दुरुपयोग हुआ ?

नही, यह दुरुपयोग नही है और मनमे आया कि निश्चय ही यह शर्मा-जीकी अनुदारता है। अनुदारता, सकीर्णता और असद्भावनाके वातावर-णमे मेरा साँस घुटता है, सो घुटता रहा और मुझे यह भी सोचना पडा कि भविष्यमे मै यहाँ नही ठहरूँगा, पर दूसरे दिन प्रात सोकर उठा, तो मै ही सबसे पहले उठनेवाला था और इस प्रकार मै ही सबसे पहले शौचालयमे गया। ताला उसपर नही था––मेरे मित्रने मेरी वृत्ति जान उसे हटा दिया था, पर किवाड खोलते ही मै सन्न हो गया। शर्माजी सफाई-पसन्द आदमी है, स्वय सफाई करनेमे विश्वास रखते है, इसलिए हमेशा उनका शौचालय भी चन्दन-चौक रहता है, पर आज तो वह पूरा नरक था––उसकी कुण्डीमे तो मल भरा ही था, चारो ओर भी गन्दगीके टीबे थे !!

मनसे गुस्सा आया, गलेमे गालियाँ उभरी और सोचा––इन आद-मियोमे और कुत्तोमे क्या अन्तर है और शर्माजी ताला लगाकर इनसे बचते है, तो क्या बुरा करते है ?

नल चलाया, सफाई की, तब कुण्डी पर बैठा और सोचने लगा कि जो शौचालयका उपयोग करे, वह उसकी स्वच्छतामे भी अपना हिस्सा दे, यह सुबोध व्यवस्था है, पर आनेवाला अबोध हो और स्वच्छतामे भाग न ले, तो उसके बाद आनेवाला सुबोध उसके भागको पूरा करनेमे झल्लाये क्यो और भविष्यके लिए ताला लगाकर उसका प्रवेश भी क्यो रोके ? वह सुबोध है, तो अपनी सुबोधता क्यो छोडे ?

एक बार फिर तालेके विरुद्ध मन विद्रोही हो उठा, पर तभी समन्वय-की सृष्टि हुई कि कोई सुबोध इस स्थितिमे भी उदार रहे, तो वह निश्चय ही आदर्श है, प्रशसनीय है, पर सहज और स्वस्थ वृत्ति यही है कि हमारा जीवन-

व्यवहार ऐसा रहे कि उससे दूसरेके जीवनकी उदारता पुस-पनपे, सकु-
चित या नष्ट न हो।

आज जो अनुदार है, कृपण है, सकीर्ण है, कल निश्चय ही उनमेंसे अधिकाश उदार रहे होंगे और दूसरोके व्यवहारोने ही उनकी उदारतापर ताला लगाया होगा, पर यह कितनी विचित्र बात है कि वे दूसरे ही अब उस अनुदारतापर भाषण देनेमे सबसे अग्रणी है।

भाई बालकृष्ण अरोडा याद आ गये मुझे। उस दिन बातो-बातोमे उन्होंने अपने एक मित्रका सस्मरण सुनाया, जिसने उनके साथ बार-बार विश्वासघात किया। अन्तमे कहने लगे—पहले कोई मिलता था, तो मै मान लेता था कि यह सज्जन है, जबतक कि अपने व्यवहारसे अपनेको दुर्जन सिद्ध न कर दे, पर कोई अब मिलता है, तो मान लेता हूँ कि यह दुर्जन है, जबतक कि अपनेको यह अपने व्यवहारसे सज्जन सिद्ध न कर दे। इस परिवर्तनके लिए उत्तरदायी कौन है ?

एक दूसरे मित्र हैं। पहले सबके कामके लिए तैयार रहते थे। फौज-दारीके मुकदमेमे एक मित्रकी जमानत की, महीनो खिचे फिरे। तबसे ऐसे चौकन्ने हो गये है कि पुट्ठेपर हाथ ही नही रखने देते और जिन्होने उन्हे ऐसा बनाया है, वे ही सब जोरसे कहते है—बहुत दिमाग हो गया है अब। मै कभी ताले कुजीमे विश्वास न रखता था। उस दिन मै जरा शौच गया कि वह बालक आया और चुपचाप जेबमे हाथ डाल सब रुपये निकाल ले गया। दूसरे दिन मै शौच गया, तो आप ही आप बिना सोचे दरवाजा बन्द कर गया—बाहर न सही, अन्तर चेतनामे तो घटनाका प्रभाव था ही।

विश्वासघात, तभी शायद सबसे बडा पाप है, क्योकि यह समाजके सर्वोत्तम गुण—सहज विश्वासपर डाका डालता है। हम इससे बचे और यो भलोको बुरा बनानेका काम न करे।

अजी, क्या रक्खा है इन बातों में!

देखिये, आप जानते है मै एक पत्रकार हूँ। वैसे तो गली-गली पत्रकार है और ऐसे पत्रकार कि क्या बताऊँ आपको कि न उनका सम्बन्ध है किसी पत्रसे और न वास्ता कारसे, पर हे वे इतने बडे पत्रकार कि उनके लैटर पेपरपर भी यह छपा है और घरके बाहरके छोटे बोर्डपर भी।

बहुतसे साथी है कि उन बेचारोकी मजाक उडाते हे। शायद आप भी उनमे हो और बहुतसे साथी है कि उन्हे ताने देते है, उनपर नाराज होते है, उनसे कुढते है, पर मुझे न ताने सूझते है, न झुँझलाहट आती है।

देख रहा हूँ कि आपके चेहरेपर जो नाक है, वह जरा चिकुड गई है और इससे आपका पूरा चेहरा ही एक प्रश्नचिह्न बन गया है। साफ है कि आपके गले मेरी बात नही उतर रही है, पर आप तो जानते ही है कि मे एक पत्रकार हूँ और मेरा काम ही बातोको गले उतारना है, तो मै आपके प्रश्नका समाधान अवश्य करूँगा।

और फिर समाधान क्या था इसमे ? यह न कोई दर्शनकी गुत्थी हे, न राजनीतिकी समस्या, बातोकी बात है और बातका और मट्ठेका बढाना क्या, घटाना क्या ? अरे भाई, बात तो सिर्फ इतनी हे कि वे कहते है हम पत्र-कार हे और मे कहता हूँ कि बधाई आपको कि आप बेकार तो नही है, कुछ न कुछ कार है। अब आप ही बताइये कि इस हालतमे ताने, नाराजी और कुढनकी गुजाइश ही कहाँ है ?

जी, देखिये, कुढनकी इसमे गुजाइश नही है, पर इसमे यह गुजाइश भी नही है, कि आप मुझे भी ऐसा ही पत्रकार समझ बैठे। मै पत्रकार हूँ, यानी सम्पादक हूँ अपने पत्रोका।

यह लीजिये वह आ रहा है सामनेसे प्रेसका फोरमैन। लोग समझते

है, जाने क्या होता है सम्पादक, पर यहाँ ८ पन्ने पूरा करनेमे हो जाता है भुस। हाँ जी, भुस ही है और क्या कि लगने लगता है, जैसे भीतर न खून रहा हो न रस, बस सूखा-सूखा और रूखा-रूखा।

"क्या बात है भाई खैरातीलाल ?"

"बात यही है कि अग्रलेख अभी तक नही मिला और साप्ताहिक लेट हो रहा है। अब शामके ६ बजे है। नोट कर लीजिये कि आपने रातमे नौ बजेतक अग्रलेख न दिया, तो कल पत्र नही निकलेगा और यह भी सोच लीजिये सम्पादक जी, कि कलकी जगह वह परसो डाकमे पडा, तो सबका सब बैरग हो जायेगा। गगाधरजी तो और तरहके पोस्ट मास्टर थे। वे देर-सवेर भी ले लेते थे, पर यह जो अब नये आये है, बस घडीकी सुई और कलेण्डरकी तारीख देखकर काम करते है। मैने सब बाते आपसे कह दी है, अब आप जाने और आपका काम। तो नौ बजे भेज दूँ सोहन या रिज-वानको मैटर लेने ?"

"हाँ, हाँ जरूर भेज देना। मुँह-हाथ धोकर चायका प्याला पिये अब बैठता हूँ मेजपर। तुम ९ क्या ८।। बजे ही मँगा लेना लेख।"

खैरातीलाल चला गया और मै अब मेजपर जा रहा हूँ। डेजीविटियाने मुझे गरम-गरम चाय पिला दी है और मूड ऐसी ताजमताजा हो रही है कि कोई दिमागमे हाथ डालकर चाहे, तो पूराका पूरा अग्रलेख निकाल ले। लेख क्या है भारतकी चहुँमुखी प्रगतिको देखनेके लिए एक नया चश्मा ही है।

जी हाँ, एक नया चश्मा। बात यह है कि आँख कमजोर हो, तो उसे साफ नही दीखता, पर चश्मा लगा लो, तो जोत जाग जाती है। सदियोकी गुलामीमे भारतकी आँखे कमजोर हो गई है, इसलिए स्वतन्त्र भारतमे जो कुछ हुआ—हो रहा है, उसे हम समझ नही पाते। हमारी आँखे तरक्की देखनेकी आदी हो गई है, पर स्वतन्त्र भारत कर रहा है उन्नति।

मेरे अग्रलेखके चश्मेसे यह उन्नति साफ दिखाई दे जायगी।

"वाह भाई वाह, यह तरक्की और उन्नतिकी धुरपट खूब रही। अरे भाई, जो खुदा वही ईश्वर और जो ईश्वर वही गौड, भले आदमी, इनमें भी भला क्या भेद ? और जो भेद इनमे नही, वह तरक्की और उन्नतिमें कहाँसे आ घुसा ?"

है न यही बात आपके मनमे, पर कहूँ एक बात, बुरा न मानियेगा, आपकी बात बस बातोकी बात है, यानी बेबातकी बात। उसमें न जान है न मान—एकदम पोपली। भाई मेरे, तरक्की और उन्नतिमें बहुत फर्क है। बहुत अन्तर है। लीजिये पहले मेरा चश्मा आप ही लगाइये। तरक्की है भौतिक समृद्धि, बाहरी सुख-साधनोंकी वृद्धि और उन्नति है मानसिक समृद्धि, किसी ऊँचे उद्देश्यके साथ जीवनकी आन्तरिक प्रवृत्तियोका जुड जाना।

मालूम होता है साफ-साफ ही कहना पडेगा आपसे। स्वतन्त्र भारतने बाँधो, योजनाओ, कारखानो, भवनोके निर्माणकी दिशामे जो वृद्धि की है, वह तरक्की है और एक ईमानदार शान्ति-दूतके रूपमे जो कार्य किया है, वह है उन्नति—प्राचीनकी भाषामे एक है अभ्युदय और दूसरा है नि श्रेयस। कहिये, है न नया चश्मा ?

तो अग्रलेख मेरा तैयार है मेरे मस्तिष्कमे, पर मेरा पत्र तो मस्तिष्क-पर नही, कागजपर छपता है और इसलिए अपना लेख भी मुझे कागजपर उतारना है। तो लीजिये, यह जम गया मै और यह लिखा शीर्षक। बस अब फर्र—फर्र।

यह कौन चला आ रहा है मेरे कमरेकी तरफ ? इन लोगोके लिए न समय है न असमय, जब देखा उड लिये हवाके झोके-मे। ओह, राम-चरणजी हैं।

"ओहो ! तो सम्पादकजी अभी अपनी कुर्सीपर ही जोग साध रहे

हे। अरे भाई, चमगादड और उल्लू दुनियाके सबसे मनहूस जीव है, पर इस समय तो उनके परो और पैरोमे भी चाल आ गई, पर तुम्हारा पहिया ऐसा जाम हुआ कि बस जमा सो जमा। अच्छा लो उठो अब कुर्सीसे।"

अच्छा लो अब उठो कुर्सीसे! यह खूब रही। मुझे अभी अग्रलेख लिखकर पूरा करना है, नही तो पत्र लेट हो जायगा और आप जानते है यह बहुत बुरी बात है। मै उनसे कह रहा हूँ, पर कह वे रहे है—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे, लो उठो, बदनमे डालो कुरता और पैरोमे चमकाओ चप्पल और बस फुर्र-फुर्र, सीधे लक्ष्मी टाकीजमे। अरे भाई, वो शानदार पिक्चर है सम्पादक जी, कि उसके एक-एक गीतपर दो-दो लेख और एक-एक डायलागपर चार-चार अग्रलेख न्यौछावर हो जाएँ।"

मै अपनी मजबूरियाँ अपने बोलोमे पिरो रहा हूँ, पर उनके पास सबका एक ही उत्तर है अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और लीजिये वे मेरा कुरता खूँटीसे उतारे ला रहे है और मेरे चप्पलोको अपने बूटसे मसलते-धकेलते-सरकाते। उनके हर व्यवहारका एक ही अर्थ है—अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे!

एक तरफ पत्रका अग्रलेख और दूसरी तरफ सिनेमाका शो। साफ-साफ एक तरफ प्रतिष्ठा और जिम्मेदारीका प्रश्न और दूसरी तरफ एक मामूली मनोरजन, जो कभी भी किया जा सकता है। क्यो जी, यह क्या बात है कि इतने छोटेसे प्रश्नके मुकाबले, इतना बडा प्रश्न मेरे मित्रके गले क्यो नही उतरता? मै अपने कामका महत्त्व जब उन्हे समझानेका प्रयत्न करता हूँ, वे कहते है—अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और समझते है कि अब मेरी बात कोई बात नही और बस उनकी बात ही एक बात है, पर प्रश्न तो यह है, कि वे समझदार आदमी है, फिर मेरी बातको क्यो नही समझ पा रहे?

मुझे याद आ रही है उस दिनवाली टेलीफोनकी बात। अरे साहब, अब क्या सुनाऊँ आपको, पर सुनानी तो है ही। मुझे अपने मित्र सेठ सेवकराम खेमकासे कुछ काम था कि मैंने टेलीफोन उठाया और उनका नम्बर माँगा। उनका टेलीफोन बहुत कम ऐसी भलमनसाहत बरतता है कि माँगते ही मिल जाये, पर उस दिन वह मिल गया और एक रूखी-सी आवाज कानोंमे पडी—"किसे पूछते हो ?"

मैंने सेवकरामजीका नाम बता दिया, तो पूछा—"कौन है आप ?"

मैंने अपना नाम उन्हे बताया—प्रभाकर! करूँ भी क्या, उपनाम ही मेरा नाम हो गया है और वही मुझे बताना पडा।

"सेठ जी भीतर है, अपना नाम बताइये, तो हम उन्हे कह दे।" फोनसे फिर प्रश्न हुआ और मैंने फिर अपना उपनाम बताया—प्रभाकर। सुनते ही वे बोले—"क्या कहा—टमाटर ?"

अपने सम्बोधनमे हरेक आदमी जीवनमे बहुत कुछ सुनता है, मैं भी सुनता ही रहता हूँ, पर यह सुनना सचमुच कुछ सुनना था और सच बताऊँ आपसे, सुनते ही मैं तो हँसते-हँसते लोटपोट हो गया और टेलीफोन रख देनेके सिवा मुझे कुछ न सूझा, पर कहानीका क्लाइमेक्स अभी बाकी है। थोडी देर बाद सेवकरामजीसे फोन मिला, तो पूछा—अरे भाई, ये कौन थे फोनपर, जो मुझे टमाटर बना रहे थे ?

वे भी जोरसे हँसे और तब बोले—"भाई साहब, वे हमारे रसोइया जी थे। बात यह है कि उनकी रसोईमें आप तो कभी आते नही, पर टमाटर रोज आते है, अब आप ही बताइये कि प्रभाकरकी जगह वे टमाटरको याद करते है, तो क्या बुरा करते है ?"

सुनकर मुझे भी इतने जोरसे हँसी आई कि टेलीफोन रख देनेके सिवाय कुछ और नही सूझा, पर तभी खुल गई मेरे सामने रामचरणजीके आग्रह-

की बात कि वे मेरे अग्रलेखको महत्त्व न देकर सिनेमा चलनेको महत्त्व क्यो दे रहे थे ?

क्यो दे रहे थे ? वही तो कह रहा हूँ। बात यह है कि हम जो चाहते हे, वह चाहने लायक है या नही, इसे भूल जाते है और भूल क्या जाते हे चाहका चाव हमे दूसरी बातपर ध्यान ही नही देने देता, क्योकि ध्यानका आधार है सम्पर्क, पर जब कोई बात अपनी गहराईसे अपनी सचाई और हमारी चाहके बीचमे आकर खडी होती है, हमे अपने बारेमे सोचनेको मजबूर करती है, तब सचाई और गहराईके उस तकाजेको टालनेके लिए हम एक ढालका प्रयोग करते है और वही ढाल है, अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे ।

जीवन भी एक अद्भुत यन्त्र है, अजीब मखमसा है। इसमे बहुत-सी चीजे है जिन्हे हमने कभी नही देखा और कभी नही जाँचा, पर हम उन्हे १०० नही सवा सो फीसदी सच मानते हे। ऐसी एक बात है कबूतर और बिल्लीकी। कहते है जब कबूतर अपने मजेमे गुटर गूँ लगा रहा हो और एक डरावनी बिल्ली कहीसे बचती-सिमटती अचानक उसके सामने आ कूदे, तो तै है कि बिल्ली नही, मौत ही छातीपर आ कूदी।

अक्लकी माँग हे कि कबूतर अब एक भी पल खराब न करे, अपने पर तोले और झपाकेसे यो उडे कि श्रीमती बिल्ली देवी जी देखा करे टुकर-टुकर और माँजा करे अपनी ही जीभसे अपने होठ, जैसे रसगुल्ला किसी बच्चे-के ओठोसे लगकर नीचेकी गन्दी जमीनपर आ गिरा हो, पर नही, कबूतरजी न तोलेगे पर और न लेगे उडारी, बस अपनी जगह जरा सिमटेगे और आँखे करेगे बन्द और समझे आप कि समझेगे यह कि न अब हम दीख रहे है देवीजीको और न कुछ कर सकती है हमारा वे।

कहते है जब आदमी सोता है, उसकी अक्ल तब भी जागती रहती है। तो अब उनकी अक्ल उनकी इस समझदारीपर हँसेगी और कहेगी उनसे

कि भले आदमी, जरा आँखकी दोनो नही, तो एक ही पुतलीको टिमटिमाकर देख, यमराज अपना पजा माध रहा है बौडम, पर जानते है आप कि कबूतरजी क्या कहेगे यह बात सुनकर ?

वे कहेगे बस यह कि अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे और बस जरा और सिमट जायेंगे वे महाशय, जैसे स्वय ही अपनी रोटीका एक ग्रास,चपातीका एक लुक्मा बना रहे हो। यह दुनिया दूसरोको रोटीका ग्रास बनानेमे वैसे ही बहुत होशियार है, फिर जब कोई स्वय ग्रास बननेमे सहायता-सहयोग देने लगे, तो क्या कहने--मुफ्तमे और मीठा। पता नही बिल्ली और कबूतरकी इस बातमे कितनी सचाई है और कितनी नही, पर मेरी आप माने तो इसे सच मान ले और सच भी सचमुच १००फी सदी।

अपनी बात कहूँ आपसे ? मैने तो पिछले सालमे इसे पूर्ण सत्य मान लिया है और यह काम किसी खटहर या वीरानेमे नही, भारतकी राजधानीके चहल-पहली कनाट प्लेसमे एक बेंचपर बैठे-बैठे किया था।

"क्या किया था आपने कनाट सर्कसमे बैठकर ?" यह आप पूछ रहे है और मै कह रहा हूँ आपसे कि कनाट सर्कसमे बैठकर मैने इसे १०० टका सच मान लिया था कि एक ऐसी भी दवा है जिसे खाकर आदमी भयको, खतरेको सामने देखकर भी आँख मीच सकता है और मान सकता है कि अब कोई भय नही रहा, बिल्कुल उस कबूतरकी तरह !

"ऐ ! क्या कहा कि ऐसी कोई दवा है कि जिसे खाकर आदमी सामनेके भयको भूल सकता है ?"

हाँ जी, आपका प्रश्न सही है, सच है, कामका है और मै कहता हूँ कि हाँ, एक ऐसी दवा है और लीजिये बताऊँ आपको कि वह दवा ऐसी नही कि गोविन्द अत्तार पुडियामे बाँध दे या केमिस्ट किचनर शीशीमे घोल दे। वह दवा ऐसी है कि आप ही घोले और आप ही पिये। वह दवा है यह ज्ञान

कि अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें और इस ज्ञानका साक्षात्कार मुझे कनॉट सर्कसमें हुआ था।

बात यह हुई कि मैं कनाट सर्कस में एक बेंचपर बैठा ताजी हवा ले रहा था कि मेरे पास ही सडकपर एक मोटर टेक्सी रुकी और उसका ड्राइवर और यात्री दोनो गुत्थमगुत्था होने लगे। लडतोंके बीचमें आ कूदना और लडाईको असम्भव कर देना, मेरा स्वभाव है और स्वभाव न समय देखता है न स्थान। मैं भूल गया कि मैं परदेशमें हूँ और जा पहुँचा युद्ध क्षेत्रमें।

पहला निशाना बिठाया मैंने ड्राइवरपर—"अपनी सवारियोंसे ही लडते हो भैया?" बोला—"बाबूजी, जब सवारी नाकू हो जाय तो क्या करें? सुबह आठ बजे इन्होंने टैक्सी ली और कुतुबमीनार और जाने कहाँ-कहाँ ले गये। अब ५ बजे गाडी छोड रहे हैं, तो कहते हैं कि किरायेके रुपये मेरे पास नही हैं।"

यात्री साहब झभककर बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। लो हटो, अब हमें जाने दो। दो चार दिनमें फिर मिलेंगे और न मिले, तो यार, कयामतके दिन अपना हिसाब कर लेना, वहाँ जरूर मिलेंगे।"

यात्रीकी यह बेफिक्री देखकर मुझे लगा कि ड्राइवरकी बात झूठी है और बात यह नही कुछ और है, पर तभी तमककर ड्राइवरने कहा—"कयामतके दिन नही, हिसाब तो मैं तुझसे अभी करूँगा बे।"

यात्रीने गुर्राकर कहा—"तो ले, अभी कर" और घूसा मारकर खिडकीका शीशा तोड दिया। मैंने उसे थपथपाया—"आखिर बात क्या है? और ड्राइवर भाईकी बात सही है, तो आपको इसके किरायेके रुपये अभी देने चाहिये।"

नम्रतासे वह बोला—"बडे भाई, रुपये जब जेबमें हैं ही नही, तो दे दूं क्या इसे?"

तो जब रुपये आपकी जेबमे नही थे, तो आप दिनभर टैक्सीमे क्यो घूमते रहे मेरे भाई ? मैंने पूछा तो वे तडाकसे बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे। भाई साहब, सुबह-सुबह ही दो फ्रेंड मिल गई और कहने लगी कि चलो घूमने। महीनोकी मनहूसियतके बाद खुशीका यह मौका मिला, तो मै कैसे इन्कार कर देता, भला आप ही बताइये कि क्या रक्खा है इन बातोमे !"

उसकी बात सुनकर सच कहूँ आपसे कि मै मान गया कि कबूतर आँख मीचकर जरूर बिल्लीको भूल सकता है और यह दवा ऐसी है कि इसे खाकर आनेवाला भय और खतरा पास नही फटक सकता। सौ खतरे हो, लाख भय हो, उन्हे सोचो मत—अजी क्या रक्खा है इन बातोमे !

तो क्या हमारे रामचरणजी, क्या कबूतरजी, और क्या हमारे यात्रीजी, सबकी बातोमे एक बात है कि क्या रक्खा है इन बातोमें—यानी क्या रक्खा है कर्त्तव्यमे और क्या रक्खा है जिम्मेदारीमे, छोडो उन्हे और जीवनकी मौज-बहार लूटो।

सोच रहा हूँ, तो छोड दूँ अग्रलेखकी चिन्ता और चला जाऊँ सिनेमा भाई रामचरणके साथ—आखिर इतनी दूरसे आये है वे ? अन्त करणका उत्तर है—कर्तव्यकी निष्ठा और दृढ सकल्प ही व्यक्तिको व्यक्तित्व देते है और इनमे ढील आई कि आदमी खोखला हुआ। नही, मुझे अपना काम करना है और कही नही जाना है—लाख बाते है, पर क्या रक्खा है इन बातोमे !

मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ ?

[१]

"अच्छा भाई, आज तो फिर कोई कहानी सुना।"

"ले फिर सुन, पर हाँ, यह बता कि आपबीती सुनाऊं या जगबीती ?"

"अरे भाई, जगबीती तो हमेशा ही जुगालते रहे, आज तो आपबीती सुना, जो दिलसे निकले और कलेजेमे समाये।"

यह लोक कथामे युग-युगोसे चली आ रही आपबीतीकी भूमिका है और जब भूमिका मैंने यहाँ ली, तो मुझे भी आज अपनी आपबीती ही आपको सुनानी है, पर सोचता हूँ कि आपबीती भी क्या सुनानी है, आपसे एक सलाह लेनी है और सच तो यह है कि सलाह भी कुछ नही लेनी। बस एक अजब मखमसेमे उलझ रहा हूँ, तो चाहता हूँ कि आप ही हाथ पकडकर किनारे लगा दे।

आँख नही तो जहान् नही, ठीक ही है, पर कम्बख्त आपा नही देखती, दूसरोको घूरा करती हैं। बात मेरी है, पर मेरी ही समझमे नही आती और क्या कहूँ आपसे कि चादरपर स्याहीके धब्बे मेरी ही दावातके है, पर तै नही कर पाता कि चादर मेरी है या उनकी ?

तो लीजिए फिर आपसे ही पूछता हूँ कि साफ-साफ बताइए—मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवकूफ हूँ ? ठीक ही है कि पहेली कोई बूझे तो अता-

पता बताये, पर आप जानते हैं कि लाग लपेट मुझे आती नहीं, साफ कहना मेरी आदत, तो अता-पता क्या, बस पूरा पता ही आपके सामने है।

[२]

"हिन्दीके मूक साधक श्री०   जी अस्पतालमें पड़े हैं। परिवारमें कोई है नहीं, तो खबर कौन ले ? भय है कि यह इकलापन उनके जीवनका अन्त न कर दे। क्या उनके लिए कुछ हो सकता है ?" एक मित्रका यह पत्र मिला, तो मन सिहर उठा।

मैंने भाभीजी-ममतामयी श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनसे सलाह की, तो तै हुआ कि उन्हें यहीं बुला लिया जाय। खर्चके रुपये मित्रको तारसे भेजे कि वह उन्हें यहाँ छोड़ जाँय और तीसरे दिन वे आ भी गये। डेढ़ महीना वे भाभीजीके घर अतिथि रहे। भोजन-पथ्य तो उन्होंने किया ही, हरद्वार-ऋषिकेशकी यात्रा भी उन्हें करा दी।

अब आया उनकी बिदाईका समय, तो सोचा कि अभी बीमारीमें उठे हैं, घर पहुँचते ही पैसा कहाँ पायेंगे। भाभीजीसे कुछ कहना जँचा नहीं, तो भाई मेवकराम खेमकासे बात की। उन्होंने चलते समय आदरसे भोजन कराया और १००) रुपये उन्हें भेंट कर दिये। वे चले गये।

मैं सन्तुष्ट था कि उन मित्रका पत्र मिला—"श्री   जी नाराज हैं कि आपने चलते समय उन्हें श्रीमती चन्द्रवतीजीसे कुछ नहीं दिलाया—या देनेसे मना कर दिया।"

दूसरे साल श्री   जी अपने पैरों यहाँ आये और स्टेशनसे सीधे खेमकाजीके घर पहुँचे—वहीं अतिथि हुए। मेरी दुष्टताका खूब बखान किया। भाभीजीसे भी मिले। दोनोंको संकेत भी किये, पर दक्षिणा कहींसे न मिली, सिर्फ टिकट ही हाथ आया।

इस यात्राकी जो रिपोर्ट उन्होने साहित्यिक मित्रोको दी, वह इस प्रकार है--"चन्द्रवती तो उत्तराखण्डकी वनलक्ष्मी है, पर उसके द्वारपर एक ब्रह्मराक्षसका पहरा है!"

साफ है कि वह ब्रह्मराक्षस मै हूँ!

[२]

एक उदीयमान कविसे पत्र-व्यवहार हुआ और जो बना, उनकी सेवा भी की। मेरे प्रदेशमे एक साहित्यिक-सम्मेलन हो रहा था। उनका पत्र आया कि मेरी इच्छा भी उसे देखनेकी है, पर जेबमे एक पैसा नही।

सम्मेलनके मन्त्रीसे मिलकर उन्हे निमन्त्रण भिजवा दिया और इण्टर क्लासका मार्ग-व्यय भी। वे आये, बहुत कृतज्ञ थे कि जीवनमे पहली बार ऐसी ममता मिली। सम्मेलन देखा, मसूरीतक घूमे।

घरमे माँ थी, छोटी बहन थी। बहनके लिए एक साडी ले जाना चाहते थे और टिकट तो अनिवार्य ही था। पूछा, तो बोले--१५) रुपये साडीके लिए चाहिएँ और १०) किरायेके लिए।

अपनी जेब तो आम तौरपर आकाश-तत्त्वसे परिपूर्ण रहती है। भाई सेवकराम खेमका और उनके अनुज श्री मेवकराम खेमका से २५) के लिए कह दिया। दूकानपर एक साडी देखी, जो उन्हे बहनके लिए पसन्द थी, पर उसका दाम २२) रुपये था। बजाज बन्धुको कह दिया कि सिर्फ १५) ही मिलेगे और साडी उन्हे ले दी।

भाई खेमकाबन्धु व्यवस्थाचार्य माने जाते है, पर काममे भूल गये और शामतक रुपये न भेज सके। गाडी सुबह ७ बजे ही जाती थी, इसलिए १०) एक पडौसीसे उधार ले उन्हे दे दिये और पहुँचाने स्टेशन गया, तो प्लेट-फार्मपर खेमकाजीका आदमी मिला--२५)का लिफाफा साथ!

गाडी उन्हे लेकर चली गई, लिफाफा लिये मैं लौट आया। १५) बजाजको भेज दिये, १०) पडौसीको। समझा, फाइल खत्म हुई, पर ४-५ दिन बाद ही एक साहित्यिक मित्रके पास, मैंने ही उनसे जिनका परिचय कराया था, पत्र आया कि "मै यह रहस्य नही समझ पाया कि आखिर भाई साहबने मेरे २५) कैसे अपने पास रख लिये ?"

साफ है कि मै चन्दा-चक्रवर्ती तो था ही, चन्दा-चटोर भी हो गया !

[४]

चिडियाके बच्चेकी तरह मैंने उसे पोसा। हालत ही तब ऐसी थी कि आंधीका झोका तो दूर, हवाका एक झपका भी उसे ले डूबता। उसे स्वीकार है कि उसके लिए जो मैंने किया, वह जीवन-भर और किसीने नही किया और उसे स्वीकार है कि उससे अधिक कोई किसीके लिए कर सके, यह असम्भव है।

उसकी घोषणा है कि मै प्रशसनीय ही नही, उसके लिए पूजनीय हूं, पर मजेदार बात यह है कि हम दोनोके सम्बन्धोमे नीम और बबूल पनपे, आम और लीचियाँ नही—कडवाहट इतनी कि उससे बढकर भी हो सकती है, यह मुझे यकीन नही आता, कल्पना नही होती !

भला क्यो ? उसे शिकायत है, उसके लिए यह असह्य है कि वही व्यवहार मैं दूसरोके साथ क्यो रक्खूँ ! उसकी अन्तश्चेतना है कि वह असाधारण सिद्ध हो, यानी जो कुछ मैंने किया, वह अपनी सद्भावनाके कारण नही, उसकी असाधारण पात्रताके कारण किया। ठीक भी है, जब वही व्यवहार दूसरे भी पायें, तो उसकी असाधारणता कहाँ ? नतीजा यह कि न वे मुझसे खुश हुए, न मै उनसे खुश, बस जीवनमे एक हगामा-सा मच कर रह गया।

[५]

बस, एक ही और! वे मुझसे बहुत दूर है, कभी उन्हे देखा नही, सिर्फ पत्र-व्यवहार है। उनके कामसे मै उन्हे पसन्द करता हूँ और चाह मनमे रहती है कि उनको कोई कष्ट न हो।

समय-समयपर जब भी उन्होने याद किया, मै उनके निकट आया—जो बना सो किया। उनके ही शब्द है—"जीवनमे कई बार तो तुमने मौतसे मुझे उबारा है।"

अब वे भी मुझसे नाराज है, क्योकि वे अब जो कुछ चाहते है, उसके लिए एक लम्बी भाग दौडकी जरूरत है और अपने सिरकी भयकर बीमारीके कारण यह भाग दौड मै कर नही सकता। मै उन्हे जो पत्र लिखता हूँ, उसमे वे और सब कुछ पढते है, सिर्फ मेरे रोगकी बात नही पढते। मेरे पुत्रने जब उन्हे यह समाचार दिया कि मै दिल्लीके स्टेशनपर रेलके पुलसे लुढक गया, तो इसके उत्तरमे भी उन्होने यही लिखा—"मेरे लिए वे कब कुछ करेगे!" और उसीमे यह भी—"मेरे लिए उन्होने अभीतक कुछ भी नहीं किया।"

[६]

ये तो हुई परिचितो-मित्रोकी बाते, पर यह भी अक्सर हुआ है कि न जान-न-पहचान, कही उन्होने नाम सुन लिया और पत्र लिखा, जिसमे उनकी परेशानियोकी चर्चा और किसीके बात न सुननेकी शिकायत!

अपने पास तो प्रेरणाकी ही पूँजी है और इसीका दो तरहसे उपयोग कि किसी उदार मित्रको कहकर कुछ रुपये उनके पास भिजवा दिये और उन्हे प्यार-प्रोत्साहनसे पूर्ण एक पत्र लिख दिया।

रुपये और पत्र उन्हे मिले कि उनका मान और गुणगानसे भरा पत्र आया और यह अनुरोध भी कि मै उनके लिए कोई स्थायी व्यवस्था करा दूँ।

मैंने उनसे स्थायी व्यवस्थाका अर्थ पूछा, उनकी योग्यता जानी और आश्वासन दिया कि कहीं कुछ हो सका, तो प्रबन्ध करूँगा। बस, अब कभी दूसरे और कभी तीसरे दिन यह पत्र कि, अभीतक आपने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम है कि आपका देश-भरमें परिचय है। आप ऐसे-वैसे हैं, यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं।

अब यदि यह प्रबन्ध हो गया, तो कोई बात नहीं, पर प्रयत्न करने पर भी न हुआ, जैसा कि सम्भव है, तो बस फिर २-४ तेज-गरम पत्र और इधर-उधरकी बुरी चर्चा—"बस साहब, बात ही बात है, करना-धरना कुछ नहीं।" और यों भी—"मुझे दो महीने उलझाये रखा और फिर पटक दिया।"

[७]

इस तरह मैं देखता हूँ नाराजीके छोटे-बड़े अनेक गुब्बारे मेरे चारों ओर उड़ रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ये गुब्बारे मुझे बर्र-ततैये और इससे भी बढ़कर साँप बिच्छू, दीखने लगते हैं।

बेचैन हो जाना, तो मेरा स्वभाव नहीं, पर फिर भी कभी-कभी यह सोचना तो पड़ता ही है कि मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ, या बेवकूफ ? मेरी इस प्रश्न-मालाका अर्थ होता है कि मैंने कोई नालायकी की है, भूल की है या यह सब मुझपर थोप दिया गया है ? मुझे कोई उत्तर तो शायद मिलता नहीं, पर हँसी जरूर आ जाती है। अपनी ही हँसीके इस मन्दप्रकाशमें मैं अपनेसे ही पूछने लगता हूँ—इन लोगोंकी तुझसे कोई लड़ाई नहीं, दुश्मनी नहीं कि ये तुझसे नाराज हों, तुझे बुरा-भला कहें, फिर इस कड़वाहटका रहस्य क्या है ?

अपनेसे अपने आप ही पूछे इस प्रश्नकी गहराइयोंमें मैं उतर जाता हूँ, उतरा चला जाता हूँ, तो देखता हूँ कि दुखकी, संकटकी, परेशानीकी घड़ियोंमें मनुष्यका मन अति आशावादी हो जाता है और वह दस मित्रोंकी

उपेक्षा सहकर जब कही जरा-सा भी सद्भाव पाता है, तो उसे लगता है, बस यही है वह, हाँ, यही है वह, जो मुझे सब सकटोसे पार कर देगा। उसे इससे एक शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है और वह विरामकी कल्पना कर लेता है—

—और यह भूल जाता है कि हरेकको अपनी सीमा है, अपनी शक्ति है। बस जब यह भूल खुलती है, तो वह झटका खाता है और बौखला उठता है। बात यह है कि एक दुखको हम विवशताकी शक्तिके सहारे झेलते रहते है, पर बीचमे थोडा-सा सुख पाकर जब हम फिर उसी दुखमे घिरते है, तो वह अब हमारे लिए एकदम असह्य हो जाता है, हालाँकि कलतक हम उसे काफी धीरजसे सह रहे थे!

मै सोचता हूँ, बीमारीकी जड तो यो हाथ आ गई दीखती है, पर इसका इलाज क्या है? प्रकृतिका विधान विचित्र है कि पहाडोपर जहाँ 'बिच्छू घास' होती है कि छूते ही नस-नसमे लहर हो जाय, वही 'पत्ता' भी होता है कि मलते ही लहर बुझ जाती है। इस रोगमे ही इसका इलाज भी है।

जबतक आजकी या आज जैसी समाज व्यवस्था है, इस तरहकी परेशानियाँ रहेगी और उनमे मनुष्य मनुष्यसे उम्मीद भी करेगा ही, तो यो ये दो आदमी, जिसमे एक है परेशान और दूसरा वह, जिससे उस परेशानीमे है सहायता-सहयोगकी उम्मीद!

बस, तो पहला 'कुछ' चाहे, 'बहुत कुछ' न चाहे और 'सब कुछ' तो कभी न चाहे, क्योकि दूसरेकी भी सीमाएँ है, यह वह भूला कि भटक गया!

और दूसरा जो कुछ कर सके करे, पर एक भी शब्द ऐसा न कहे, न लिखे, जिससे पहलेका 'कुछ' पलक मारते "बहुत कुछ" से 'सब कुछ' तक पहुँच जाए। यही नही, इतना और भी कि साफ तौरपर ऐसी दीवार खीचनेमे न चूके, जिसे छलागना पहलेकी उमीदो-आशाओके लिए सम्भव हो!

बेईमान का ईमान, हिंसक की अहिंसा और चोर का दान !

दोपहर भोजनके बाद मुझे ध्यान आया कि मेरे अतिथिको पान मिलना चाहिए। कोई पास था नही, तो मै ही चला गया सिनेमाके पासवाली दूकानपर।

"भाई, मेरे पास दो रुपयेका नोट है और मुझे दो पान लेने है—दोगे ?" बादकी उलझनमे उसे और अपनेको बचानेके लिए दूकानदारसे मैने कहा।

वह पान लगाने लगा, मै खडा रहा। तब पान लिये, नोट दिया और उसने जो एक रुपया और बाकी रेजगी दी, उसे जेबमे डाल चल पडा। खोटा-खरा देखना मेरे सस्कारके विरुद्ध है, क्योकि मै पारखी नही, विश्वासी हूँ। अक्सर खोटे सिक्के आ जाते है और अपने नियमके अनुसार उन्हे कुएँ या नालेमे फेक देता हूँ। उन्हे किसीको चलाता नही और इस तरह प्रतिमास ही कुछ-न-कुछ आर्थिक हानि सहता हूँ, पर सस्कार और सिद्धान्त हानि-लाभ देखकर तो जीते नही, तो रेजगी बिना देखे ही जेबमे डालकर मै लौट पडा।

"बाबूजी, सुनिएगा जरा।" किसीने पीछेसे मुझे पुकारा, तो मुड देखा कि वह पानवाला ही पुकार रहा है मुझे।

"वे पैसे दिखाइयेगा जरा।" पास आते ही उसने कहा, तो लगा कि यह शायद ज्यादा पैसे दे गया है। मैने जेबसे ज्यो के त्यो निकालकर उसे दे दिये वे पैसे, तो उसने उनमेसे एक सिक्का उठाकर अपनी सन्दूकचीमें रख लिया।

मैने सोचा—ठीक है, ज्यादा ही दे दिये थे इसने कुछ पैसे, अच्छा ही हुआ इसको ध्यान आ गया। नही तो खामखा बेचारेको नुकसान होता, पर तभी उसने अपनी सन्दूकचीमेंसे निकालकर एक सिक्का उनमे रक्खा और पैसे मुझे लौटा दिये।

मैंने उन्हे फिर ज्यो का त्यो, जेबमे रख लिया और पूछा—"क्यो, क्या बात थी भाई ?"

"कुछ नहीं बाबूजी, एक चवन्नी खोटी थी उनमे, वह बदल दी है।"

मैं चल पडा और तब आप ही आप उसने कहा—"ऐसे आदमीसे भी क्या बेईमानी करना, जो देखे, न गिने।"

अब यह रहस्य मेरे सामने खुला पडा था कि उसने मुझे जान-बूझकर खोटी चवन्नी दी, धोखा देनेका प्रयत्न किया, पर मैने उसका पूरा विश्वास किया कि न खरा-खोटा देखा, न गिनती की। मेरे इस विश्वासने उसके मानसको झकझोरा। यह झकझोर इतनी प्रबल थी कि वह उसे सह न सका और स्वय बुलाकर उसने वह खोटी चवन्नी वापस ले ली।

विश्वासकी यह विजय, मानवताका यह सस्पर्श मेरे तन-मनपर छा गया और लगा कि उसने मुझे केवडा पडी मीठी शिकजबी पिलाई है अभी-अभी और उसकी सुगन्ध और स्वादसे मेरा अन्तर भर-भर उठा है।

"क्यो भाई, फिर तुमने पहले ही यह खोटी चवन्नी मुझे क्यो दी थी ?" मैंने उसे तराजूपर चढाया।

"और क्या करे बाबूजी ? गाहक लोग उस्तादीसे हमारे सिर मढ जाते है खोटे सिक्के और सफाईसे हम उनकी ही जेबमे उतार देते हैं उन्हे।" बिना झिझके वह खुल पडा—"इन्हे मैं अपनी दूकानमे तो कुछ बनाता ही नही।"

"अपनी जगह ठीक है तुम्हारी बात।" मैंने उससे कहा और लौट पडा, पर क्या मेरी बातका यह मतलब था कि मैं उसके कार्यका समर्थक

हूँ, उसे ठीक मानता हूँ ? मेरा मतलब था यह कि मैंने मान लिया था कि वह पानवाला मूलमे बेईमान नही है—सिर्फ दूसरोके द्वारा अपने साथ किये बेईमानेको बेईमानेसे बचानेमे विश्वास करता है। कुश्तीकी भाषामे—यह विरोधीके दावको उसीके दावसे काटना है।

"—पर मैंने तो इसके साथ कोई बेईमानी नही किया था, फिर इसने मेरे साथ क्यो बेईमानी की ?" यह एक उपप्रश्न आया, पर मनके पास उसका समाधान जैसे पहले ही तैयार था—"इसके लिए तुम, ये, वे, कोई अलग-अलग व्यक्ति नही—एक ही व्यक्तित्व है गाहक ! बस गाहकने इससे बेईमानी की, इसने गाहककी हजामत बना दी। गाहक गाहक सब एक, पर आज जब इसकी दूकानपर एक ऐसा गाहक आया, जिसके विश्वासी व्यवहारसे सिद्ध हुआ कि यह गाहक तो है, पर बेईमान नही, तो इसके भीतरकी सहज ईमानदारीने कहा—बेईमानके साथ बेईमानी तो ठीक है, तेरा नियम है, पर यह तो आज तू ईमानदारके साथ बेईमानी कर रहा है, और बस उसने मुझे स्वय बुलाकर खोटी चवन्नी बदल दी।"

लौटते-लौटते मैंने सोचा—यह तो बेईमानके ईमानका ही दर्शन हुआ आज और बस मैं आनन्दसे भर गया, पर अपने पलग पर लेटते-लेटते मेरे अन्तरकी आँखोमे घूम गया पेशावरका किस्साखानी बाजार और २३ अप्रैल १९३० की सुबह !

तब भारत गुलाम था और गुलामीके विरुद्ध एक बार सारा देश उभर उठा था। शराब और विदेशी वस्त्रोकी दूकानोपर स्वतन्त्रताके स्वयसेवक धरना देते, लाठी चार्जके बीच भारत माताकी जय बोलते, जुलूस निकालते, आजादीके तराने गाते, जलसोंमे हुँकारते और इन्कलाब जिन्दाबादके नारोसे आकाशको गुँजा देते। सरकार उन्हे गिरफ्तार करती, तो मालाएँ पहने और हजारोकी भीडमे घिरे-घिरे वे यो जेल जाते, जैसे अपनी ही

शादीमे जा रहे हो!

अगरेज़ सरकार देशके इस नये उभारसे चिन्तित थी, पर उन्ही दिनो सरहदके सूबेमे जो कुछ हो रहा था, उससे तो वह बहुत ही परेशान थी। वहाँ सरहदी गॉधी खान अब्दुल गफ्फार खानके तपस्वी नेतृत्वने खूनी पठानोको अहिसाका सर्वोत्तम सिपाही बना दिया था और वे लालकुर्त्ती दलके रूपमे स्वतन्त्रताके युद्धमे कूद पडे थे।

२३ अप्रैलसे पेशावरमे भी शराब और विदेशी कपडेकी दूकानोपर धरना आरम्भ होनेवाला था और इसमे अगरेज़ सरकारको अपनी मौतका वारण्ट दिखाई दे रहा था। देशव्यापी यह धरना, सरहदमे उसके लिए उस अजगरकी तरह था, जो आदमीको अपनी कुण्डलीमे फँसा, अपनी ताकतवर ऐंठनसे उसकी हड्डी-पसलियाँ तोड डालता है। उसे भय था कि यह आग कबायली इलाकोमे फैल गई, तो बस फिर होली ही होली है। वह जानती थी कि मौतके खिलाडी पठान जेल और लाठीसे डरनेवाले नही, इसलिए उसने आगसे आगको बुझानेका फैसला कर लिया था और गढवाली पलटनको आज किस्साखानी बाज़ारमे ला खडा किया था!

अब एक तरफ थे गढवाली जवान—अपनी राइफलोसे लैस-लब्बैक और दूसरी तरफ लालकुर्ती पठान—अपनी बलिदानी भावनासे सजे-धजे। काग्रेसका तिरगा झण्डा आकाशमे फहरा रहा था। चारो ओर बाज़ारोमे, छतोपर, खिडकियोमे दर्शक ही दर्शक थे। एक अजीब वातावरण था, जिसमे सनसनी थी, उल्लास था, कुतूहल था, दर्प था, हुँकार थी!

कम्पनीका कमाडिग-आफीसर कैप्टेन रिकैट तना खडा था। उसकी परवाह न करके स्वतन्त्रताके स्वयसेवक गढवाली सिपाहियोके पास आ-आकर उन्हे देशकी बात समझा रहे थे। यह देखकर रिकैट चिल्लाता—"हटाओ इनको यहाँसे!" और तब लम्बी-लम्बी सीटियाँ बजाता और

चिल्लाता—"भाग जाओ, भाग जाओ!"—पर उसकी आवाज और सीटी, जैसे वहाँ कोई भी नही सुन रहा था।

तभी एक गोरेने आकर रिकैटके हाथमे पर्चा दिया। उसे पढते ही वह चिल्लाया—"तुम लोग भाग जाओ यहाँसे, नही तो गोलीसे भून दिये जाओगे।"

वह मृत्युके ताण्डवकी पहली थाप थी, पर एक भी आदमी वहाँसे नही हटा। कैप्टेन रिकैट तमतमा रहा था। फौजी आदेशकी टोनमे उसने कहा—"गढवाली तीन राउण्ड फायर! (गढवाली, तीन-तीन गोली चलाओ)।"

गढवाली बहादुरोकी राइफले उठी और निशानेपर आई, पर तभी गूँजी यह आवाज—"गढवाली, सीज फायर! (गढवाली, गोली मत चलाओ!)" यह कैप्टेन रिकैटके बाई ओर खडे क्वार्टर मास्टर हवलदार चन्द्रसिंहकी आवाज थी।

उन सिपाहियोके सामने अब दो हुक्म थे—तीन राउण्ड फायर और सीज फायर! हिसा और अहिसाका यह एक ऐतिहासिक अन्तर्द्वन्द्व था। हिसा पराजित हुई, अहिसा विजयी। 'सीज फायर' का हुक्म पास हुआ और सिपाहियोने अपनी-अपनी राइफिले जमीनपर खडी कर दी। भावना किस ऊँचे धरातलतक जा लगी थी, यह तब दिखाई दिया, जब एक सिपाहीने अपनी ५ राउण्ड भरी राइफिल पठानोको सौपते हुए दोनो हाथ उठाकर कहा—"लो, अब चाहो, तो तुम हमे मार डालो!"

कैप्टेन रिकैट अवाक्-भौंचक और आकाश भारत माताकी जय, महात्मा गाँधीकी जय, गढवाली पलटनकी जयसे भरा-गूँजा; जैसे आज उसमे पहली बार दिनमे फूल खिले हो!

जलती आँखोसे रिकैटने हवलदारसे पूछा—"यह क्यो?"

गम्भीर कण्ठसे हवलदारने कहा—"ये लोग तो खाली हाथ खडे

है, निहत्थोपर हम गोली कैसे चलाएँ ?"

हवलदार चन्द्रसिंहकी बातका अर्थ क्या हुआ ? यही कि जो दुश्मन है, वार करना चाहता है, मिटाना चाहता है, उसपर हम वार करे, उसे मिटाएँ, यह सिपाहीका प्रशिक्षण है, स्वभाव है, सस्कार है, पर जो दुश्मन नही, जो हमारा बुरा नही, भला चाहता है और जिसके पास मारनेको हथियारतक नही, सिपाहीका हाथ उसपर क्यो उठे, सिपाही उसे क्यो मारे ?

वही मेरे पानवाले भाईकी बात कि जो मुझसे बेईमानी करे, मै उससे बेईमानी करूँ, पर जो मुझसे बेईमानी नही करता, मै उससे बेईमानी करूँ--तब भी मेरा विश्वास करता है--उससे मै बेईमानी कैसे करूँ ?

अब मेरे दाई ओर खडे थे हवलदार चन्द्रसिह और बाई ओर पानवाला भाई। मैने दोनोकी ओर देखकर कहा—मेरे हवलदार, तुम हो हिंसकका विवेक और पानवाले भाई, तुम बेईमानका विवेक। मै तुम दोनोको एक साथ नमस्कार करता हूँ।

और तुम कौन हो भाई ?

यह मेरे पलगके पास कौन आ खडा हुआ ?

"मै चोर हूँ—भैरोसिह। मेरी भी एक कहानी है।"

तो सुनाओ अपनी कहानी, मैने कहा, तो बोला—"दिल्ली-बम्बई लाइनपर पिछले २० वर्षोसे मै चोरीका रोजगार करता हूँ। बडा शानदार काम है मेरा कि 'इन्वैस्टमैंट' कुछ नही, पर 'डिविडैंड' भरपूर ! कभी-कभी तो एक ही हाथ ऐसा बैठता है कि जन्मभर खाओ, तो खत्म न हो, पर जोड़ रखना मेरे पेशेमे धर्म-विरुद्ध है, इसलिए गगा बहती रहती है--जैसे आता है, वैसे जाता है !

तो उस दिन मै लाइनपर अपने कामकी तलाशमे था कि मैने देखा कुछ लोगोके पास रुपयो और खरीजसे भरा एक पूरा कनस्तर रक्खा है। उन्होने

उसमे एक किताब-सी रखी, तो मैंने भॉप लिया कि माल चकाचक है।

एक बूढा उसकी देखरेख कर रहा था। वह उठकर जरा टट्टीमे गया और मैं उसे उठाकर दूसरे कम्पार्टमेण्टमे जा पहुँचा। मैंने सोचा कि हल्ला मचेगा, तो इसे झाडियोमे फेंक दूँगा और अगले स्टेशनपर उतर जाऊँगा, पर कोई हल्ला नहीं मचा, तो समझ लिया कि बूढा टट्टीसे आकर सो गया है। यो ही जरा ढक्कन उठाकर देखा, तो लक्ष्मीका धवल रूप आँखे चौंधिया रहा था, पर यह किताब क्या है ? देखा, तो गोआ सत्याग्रहकी रसीद-बही थी। पूछकर जाना कि गोआमे लोग देशके लिए बलिदान होनेको जा रहे है और जनता हर स्टेशनपर दान देती है।

ओह, इस कनस्तरमे सत्याग्रहियोको मिले दानका रुपया है और मैं इसे चुरा लाया ! एक बार मुझे ध्यान आया कि बहुत दिनसे ताजमहल होटलमे नूरजहाँके साथ तीन दिन गुप्त रहनेकी इच्छा थी, सो इस कनस्तरमे पूरी हो जायगी, पर दूसरे ही क्षण मेरी आत्माने कहा—कम्बख्त, जो लोग देशके लिए मिट रहे है, उन्हे कुछ देना चाहिए या उनका माल हड़पना !

बस मैंने अपनी जेब देखी और उसमे जो बाइस रुपये थे, वे उस कनस्तरमे रख दिये। एक पर्चा लिखा कि भाइयो, मैंने आपका कनस्तर चुरा लिया था, पर रसीद बहीसे आपके बलिदानकी बात जानकर जेबके २२ रुपये इसमे रख, इसे आपके पास भेज रहा हूँ। ईश्वर आपको सफल करे और एक आदमीके हाथो कनस्तर सत्याग्रहियोके डब्बेमे भिजवा दिया।

कहानी सुनकर मैंने कहा—ठीक है, यह चोरका विवेक है, तो सार यह कि मनुष्य किसी भी स्थितिमे हो, विवेकको कभी हाथसे न जाने दे, क्योकि मनुष्यके जीवनमे विवेक ही मार्गदर्शक प्रदीप है। और यह भी कि मनुष्य लाख बुरा बन जाये, पर कभी बुरा नही होता !

सीता और मीरा !

भारतीय इतिहासमे नारी-चरित्रके दो महान् पात्र हैं—सीता और मीरा। सीता सामाजिक मर्यादाका प्रतीक है और मीरा मर्यादा-भगका। क्या ये दोनो नारीके स्वतन्त्र रूप है ? दो होकर भी लगता है ये दोनो नारी-चरित्रका आदि अन्त है—एक ही तस्वीरके दो पहलू है। सीता भी अपनेमे अपूर्ण और मीरा भी। ये दोनो मिलकर एक पूर्णताका रूप लेती है।

सीताका सन्देश है सामाजिक मर्यादाओकी अभगता। समाजने समाजके हितके लिए जो मर्यादाएँ रची और जिन्हे नागरिकोने स्वेच्छासे समाजकी समुन्नतिके लिए स्वीकार किया, उन्हे पालनेमे सुख हो या दुख, मान मिले या अपमान, नारीको उन्हे मानना है, पालना है, नही तोडना है, नही ही तोडना है।

सीताने रामकी स्मृतिमे रावणके स्वर्ग-राज्यपर लात मार दी। अशोक-वाटिकामे ऐसी यातनाएँ सही, जो उस जैसी सुकुमारीके लिए ही नही, स्वय रावणके लिए भी असह्य हो उठती, पर वह अडिग रही। रामके विना उसके लिए सब कुछ निस्सार था, पर रामने इस प्रेम-तपके बदले सीताको क्या दिया ? समाजके सामने उसकी अग्नि-परीक्षा ली और इस अग्नि-परीक्षाके बाद भी एक मूर्ख धोबीके कहनेपर गर्भिणी सीताको वनमे धकिया दिया। सीता फिर भी अभग रही।

क्या इसका यह अर्थ है कि उसने रामके इन कामोको पसद किया ? वह ऐसी भोली न थी—उसने समझा कि वह निर्दोष है, फिर भी उसे दण्ड दिया गया है, पर उसने साथ ही यह भी समझा कि यह दण्ड रामके क्रोधका, उसकी क्षुद्रताका फल नही है। यह रामके समाज-विधान-रक्षक रूपका

कर्तव्य पालन है। उस दण्डको उसने रामके कार्यमे अपना सहयोग मानकर सहा और रामके प्रति अपनी निष्ठाको अखण्ड रखा। समाजने पतिव्रतके रूपमे नारीपर जो मर्यादाएँ लगाई, सीताने अन्याय सहकर भी उनकी रक्षा की। सीताका यह कष्ट समाज-विधानकी रक्षाके लिए सहा गया तप था; जैसे इस युगमे राष्ट्रकी रक्षाके लिए श्रीमती सरोजिनी नायडू और विजय-लक्ष्मी पण्डितकी जेल-यात्रा।

रामने क्रोधवश, घृणावश, प्रतिहिसावश, क्षुद्रतावश यह सब नही किया, अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए ही यह कष्ट सहा। कष्ट सहा ? हाँ ! सीता वनमे रही, तो वह घरको ही वन बनाकर रहा। उसके मनमे सीता कभी लाछित नही हुई, अप्रिय नही हुई। वह उसकी यादमे तडफा, रोया, पर अभग रहा। वह स्वय नई रानी ले आता, तो पतित हो जाता। वह भी अडिग रहा, वह भी अडिग रही। दोनोने व्यक्तिगत कष्ट सहकर भी समाज-मर्यादाकी रक्षा की।

हम कह सकते है कि ड्यूक आफ विण्डसरकी तरह राम भरतको राज्य देकर और स्वय सीताके साथ वनवासी होकर भी यही कर सकता था। ठीक है, पर उस युगकी परिस्थितियाँ क्या थी ? जाने कब कबसे चला आ रहा दो सस्कृतियोका सघर्ष तभी रामके द्वारा समाप्त हुआ था और राम तब उस विजयी सस्कृतिकी छायामे एक नई समाज-व्यवस्थाकी स्थापनामे लगा था।

वह तब लगभग उस स्थितिमे था, जिसमे १९२१-२२ मे क्रान्ति-विजेता लेनिन था। एक प्राचीन समाज-व्यवस्था भग हो चुकी थी और उसके स्थानमे एक नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित हो रही थी। तब राम जरा भी चूकता, तो सारी क्रान्ति असफल हो जाती। क्या महान राम यह सह पाता !

इससे मिलती-जुलती परिस्थितियोमे महापुरुप कमालपाशाने अपनी प्रिय पत्नीको तलाक दिया या नही ? उसकी परित्यवना पत्नी जब महलसे विदा हुई तो कमाल उसे जाते हुए देख भी न सका—रुमाल आँखोपर रक्खे, अपने झरोखेके नीचे वह बैठा ही रह गया।

फिर राम और सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए अलग-अलग रहकर समाजका अन्याय सहा और विण्डसरने देशकी रक्षाके लिए अपनी पत्नीके साथ अपने घरसे अलग रह कर समाजका अन्याय सहा। विण्डसर सम्राट् एडवर्डके रूपमे यदि पार्लमेटको भगकर उस समय सम्राट् बना रहता और इग्लैडकी शक्तियोको इस झमेलेमे उलझा, राजनीतिज्ञोमे बुद्धि-भेद पैदा कर देता, तो महायुद्धमे इगलैंडकी वही दशा होती, जो कि फ्रांसकी हुई।

एडवर्डने विण्डसर बनकर इगलैंडको बचा लिया; एकदम उसी तरह जैसे रामने सीताको त्याग करके भारतको बचा लिया था। रामने इस एक ही झटकेमे अपने महापुरुषको देवत्व दे दिया और सारे विद्रोहोकी भावनापर तेजाब छिडक दिया !

इस प्रकार स्पष्ट है कि सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए समाजकी मर्यादाओका पालन किया। यह जानकर भी कि रामका दिया दण्ड अन्याय पूर्ण है, नारी पर पुरुषका राक्षसी अत्याचार है, उसने रामके विरुद्ध विद्रोह नही किया। सीताने रामके दण्डकी ओर नही देखा, रामके उद्देश्यकी ओर ही आँखे रक्खी। मनके प्यालेमे असन्तोषका जो विप घुला, उसे वह भगवान्का चरणामृत मानकर पी गई। एक विशिष्ट उद्देश्यके लिए पतिके साथ पत्नीकी लीनताका विश्वके साहित्यमे सीता सर्वोत्तम उदाहरण है।

राम हमारी सभ्यताके पाणिनि थे। पाणिनिने सस्कृत भाषाको

अपने व्याकरणकी चारदीवारीमे ऐसा घेरा कि वह सदाके लिए बिखरनेसे बच गई। साथ ही यह भी सच है कि फूँक-फूँककर पग रखनेकी नीतिने सस्कृतकी ग्रहण शक्तिको रोक दिया। फलस्वरूप उसकी प्रगति रुक गई। सस्कृतको मृतभाषा कहना तो मूर्खता है, पर इसमे सन्देह नही कि वह अतीतका वैभव बनकर तो रह ही गई। निश्चय ही आज भी वह हमारा शक्ति स्रोत है। पर जीवनका प्रवाह तो नही !

रामने समाज-व्यवस्थाकी जो मर्यादा बाँधी, सीता-परित्यागके रूपमे उसका स्वय इतनी कठोरतासे पालन किया और शम्बूक वधके रूपमे जनतासे उसका पालन इतनी कठोरतासे कराया कि आगे चलकर यह मर्यादा आत्म निर्माणकी मधुर साधना न रहकर, बन्दी-जीवनका कठोर नियन्त्रण रह गई। सीताने अपने जीवनके आदर्शसे पुरुषके जिन अधिकारोकी घोषणा की, पुरुषकी प्रधानताका जो प्रदर्शन किया और विशिष्ट उद्देश्यके लिए पुरुषके प्रति नारीके आत्म-समर्पणका जो दृष्टात उपस्थित किया, वह कानून बन गया। अब समाजमे पुरुषके अधिकार नि सीम और नारीका कोई अधिकार नही। हमारे सामाजिक विधानकी कोमलता नष्ट हो गई और वह पत्थरके स्तम्भकी तरह नारीकी बन्धन-शिला बनकर रह गया।

मीरा इस बन्धन-शिलाके विरुद्ध एक शक्तिशाली विद्रोह है।

मीराने धार्मिक वातावरणमे अपने बचपनके साँस लिये। माँ उसकी बचपनमे मर गई। पितामह दूदाजी परम वैष्णव थे। उनके सम्पर्कमे मीराका मन कृष्ण प्रेममे कुछ इस तरह रँग गया कि उसमे और किसीके लिए स्थान ही न रहा। दुनियाने जाना और माना कि मीराका विवाह मेवाडके महाराणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र भोजराजके साथ हो गया, पर मीराका विवाह मीराके लिए तो, उसी गिरिधर गोपालके साथ हुआ, जिसकी मूर्तिको अपने साथ लेकर वह विवाह-सस्कारके आसनपर बैठी।

आनुषगिक दुर्भाग्य कि वह शीघ्र ही विधवा हो गई और उसके सगे देवर रतनसिंहकी भी मृत्युके कारण उसके सौतेले देवर राणा विक्रमपर आ पडा उसके सरक्षणका भार।

मीरा बन्धनहीन, मर्यादाहीन, स्वच्छन्द साधनी और राणा आदेश, नियन्त्रण और मर्यादाका पुजारी—दोनोमे सघर्ष स्वाभाविक था और वह आया।

राणा सीतापति रामका वशधर, जिसने वर्णाश्रम व्यवस्थाके विरुद्ध तप करते शूद्रका सिर तलवारके एक ही वारमे धडसे अलग कर दिया और प्रेम-पगली मीरा हरिजन सन्त रैदासकी शिष्या—'**गुरु मिलिया रैदासजी, दीनी ज्ञानकी गुटकी।**'

राणा सामाजिक बन्धनोका दास, जिसके लिए रानीका स्वरूप यह कि उसे सूर्य भी न देख सके और मीरा इन सब बन्धनोसे मुक्त, वन-उपवन साधुओके साथ कृष्ण भक्तिमे नाचती-गाती एक उन्मुक्त विहगबाल!

राणाजी अब न रहूँगी तोरी हटकी,
साधु संग मोही प्यारी लागै लाज गई घूँघटकी।

× × ×

सतगुरु मुकुर दिखाया घरका नाचूँगी देदे चुटकी।

राणाके दिमागमे रानीका चित्र है—सोने-रत्नोसे जडा, रेशमसे लकदक और महलोमे बन्द, पर मीराका शृगार है रुद्राक्षकी माला, चन्दन-चर्चित ललाट और दिन-रातके बन्धनोसे भी स्वतत्र।

"महल किला राणा मोहि न चाये सारी रेशम पटकी।
हुई दिवानी मीरा डोले केश लटा सब छिटकी॥"

दीवानी मीराकी घर-घर चर्चा है। इस चर्चामे निन्दाका विष ही घुला है, अमृतकी कही एक बूँद नही, फिर राणा उस रामका वशधर,

लोक लाज और लोक-सग्रहके नामपर जिसने निर्दोष पत्नीको वनवास दे दिया। वह अपने वगकी यह निन्दा कैसे सहे? उधर मीराकी कोई निन्दा करे या स्तुति उसे क्या। उसके लिए तो स्पष्ट दिशा है—**"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई!"** जिसके लिए दूसरा कोई है ही नही, वह लोक-लाज किससे करे!

राणाकी बहन ऊदाँबाई मीराको समझाती हैं—

"भाभी मीरा, साधाँको सग निवार सारो शहर थारी निदा करै।"

मीरा बिल्कुल अपनेमे स्पष्ट है—

"वाई ऊदाँ करै तो पडया झक मारो मन लाग्यो रमता राम सूँ।"

ऊदाँबाई लोक निन्दाका दूसरा पक्ष लेती है—

"भाभी मीरा, गढ चित्तौड राणो जी लाजै गढरा राजवी।"

अरे भाभी, तुझे अपनी निन्दाकी चिन्ता नही है, तो कमसे कम इस महान् चित्तौड और उसके राणाकी तो तू चिन्ता कर, पर मीरा क्या अपने प्रति कही अस्पष्ट है कि वह शरमावे—

"वाई ऊदाँ, तार्योतार्यो चित्तौड राणाजी तार्यो गढरा राजवी।"

अरे बावली ऊदाँ, मैंने तो अपने कर्मोंसे इस तेरे चित्तौड गढ और उसके राणा दोनोको तार दिया है।

अब नारीने नारीके कोमल मर्मपर उगली रख उसे टटोला।

ऊदाँबाई कहती है—

"भाभी मीराँ, राणाजी रो बचन न लोप, उन रूठ्याँ भीडी कोऊ नही!"

भाभी, राणाकी बात न टाल, उनके रूठनेपर तेरी कोई रक्षा नही कर सकता! ऊदाँ बेचारी नही जानती कि मीराका रक्षक तो सदैव मीराके साथ है—

"ऊदॉ, रमापति ग्रावै म्हारै भ.ड ग्ररज करूँ छै तासू बीनती।"
सखी सहेलियोके ये परामर्श, विपका प्याला, कॉटोकी सेज ग्रौर काला नाग सव ग्रसफल रहे—मीराका वढा कदम फिर पीछे न मुडा। मीराने ग्रपनी वात ग्रन्तमे दो टूक कह दी—

राणा नै समझावो जावो, मै तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सन्तॉ हाथ बिकानी।"

मीरा समाजकी मर्यादाके प्रति ग्रथसे इतितक विद्रोही है। न उसे प्रलोभनोसे उस मर्यादामे बॉधा जा सका, न लोक-निन्दाके भयसे ग्रौर न मृत्यु एव दण्डके ग्रातकसे। वह ग्रपने रास्ते चली ग्रौर सिर्फ ग्रपने ही रास्ते चली। ग्रपने रास्तेकी ऊँचाई ग्रौर पवित्रता ही उसके सामने रही, लोकापवाद नही।

मूर्ख ग्रौर ग्रन्धा समाज यदि ग्रसत्यको सत्य, पापको पुण्य ग्रौर कालेको गोरा कहे, तो क्या हमे झुक जाना चाहिए ग्रौर उसकी हॉमे हॉ मिलानी चाहिए? मीराके जीवनकी प्रतिध्वनि है—नही, एक बार नही, हजार बार नही, लाख बार नही; ग्रौर वस यही मीराका विद्रोह है!

सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए जिस मर्यादाका कठोर पालन किया, मीराने सत्यकी रक्षाके लिए उसके टुकडे-टुकडे कर दिये ग्रौर दोनोने मिलकर जैसे ससारसे कहा—समाजकी मर्यादा सकट सहकर भी पालन करनेके योग्य है, जब वह सत्यपर ग्राश्रित हो, शिवपर सतुलित हो ग्रौर सुन्दरकी विधायिका हो ग्रौर समाजकी मर्यादा सकट सहकर, प्राण देकर भी भग करनेके योग्य है, जब वह सत्यके विरुद्ध हो, शिवकी बाधक हो ग्रौर सुन्दरकी नाशक हो।

स्पष्ट शब्दोमे—मर्यादा साधन है साध्य नही। वह इसलिए है कि सत्य, शिव, सुन्दरका पथ प्रशस्त करे। वह इसलिए नही है कि सत्य,

शिव, सुन्दरके पथमे बाधक बनकर खडी हो– उसे यह अधिकार नही दिया जा सकता, नही दिया जा सकता। पहली दशामे वह पोषण है और दूसरीमे शोषण और यह तो बालक भी जानते हैं कि पोषण हमारे सिचनका और शोषण हमारे सहारका ही पात्र है—जहाँ पोषणका शोषण और शोषणका पोषण होता है, वह व्यक्ति हो या समाज फल-फूल नही सकता !

सीता और मीरा, हमारे राष्ट्रके दो महान् नारी-चरित्र और हमारी नारी-सस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण इकाई ! इस इकाईके प्रति हमारा शत-शत वन्दन और लक्ष-लक्ष अभिनन्दन !

मेरे मित्रकी खोटी अठन्नी !

चित्रकार मित्र श्री आगाराम शुक्लके कला-निकेतनसे उस दिन नई दिल्ली रेडियो स्टेशनके लिए चला, तो एक मित्र भी साथ हो लिये। डेढ़ रुपयेमे तागा किया, रेडियो स्टेशन पहुँचे, तो देखा कि जेबमे कोई छोटा नोट ही नही।

दस रुपयेका नोट तागेवालेको दिखाया, तो उसने एक अधूरे वाक्यमे ही अपनी बात पूरी कर दी—"अजी, सरकार !" साथ आये मित्रका हाथ उनकी जेबको छूने वाला ही था कि अपना नोट मैने उन्हे थमाया और भीतर चला गया। थोडी देर वाद वे भीतर से लौटे, तो मेरा नोट उनके हाथमे था। बोले—"नोट तो टूटा नही, पर एक बला टल गई। जाने कहाँसे एक खोटी अठन्नी जेबमे आ घुसी थी और महीना हो गया, टलती ही न थी। एक रुपयेके नोटमे लपेटकर तागेवालेको भिडा आया।"

मुझे यह बुरा लगा। मैने उन्हे इसके लिए बुरा-भला कहा, तो बोले—"अजी, अब आपकी तरह तो हम भगत हो नही सकते। फिर मै खोटे सिक्के ढालता तो हूँ नही, चलती हुई आई थी, चलती हुई चली गई !"

कोई एक घण्टा बाद हम रेडियो स्टेशनसे बाहर निकले, तो देखा कि वही तागेवाला खडा है। उसने हमे बुलाया और हम बैठ गये। तै करनेकी भी कोई बात न थी, अभी तो हम उसमे आये ही थे।

मुझे खुशी हुई कि वह मिल गया। तागेसे उतरकर नोट टूटेगा, तो सोचा इसकी खोटी अठन्नी भी बदल दूँगा, पर मेरे मित्र मुझसे अधिक चौकन्ने थे। उन्होने मेरे उतरनेसे पहले ही अपने पाससे दो रुपयेका नोट तागेवालेको थमा दिया। उनके पास शायद वही नोट था और किसी

दुर्घटनाकी सम्भावना भी उनके मनमे न थी, पर तांगेवालेने नोट लेकर जब उनकी ही दी हुई खोटी अठन्नी उनके हाथ दी, तो बेचारे झेंपे भी, झिझके भी, पर करते क्या, राह तो कही थी ही नही। उनकी जेबसे चली अठन्नी, चल फिरकर उनकी ज़ेबमे आ पहुँची।

एक वार तो लगा कि मेरे भीतर हँसी उफन पडेगी, पर तभी जैसे गम्भीरताकी गाँठ उलझ-सी गई। मुझे लगा कि यह खोटी अठन्नी जीवनका एक बडा पाठ है, पर वह पाठ क्या है ?

नोट तुडाकर तीन रुपये मैंने भावनामे हाँ और स्वरोमे ना कहते, मित्रकी जेबमे डाले और अपने कमरेमे आ लेटा—वह अठन्नीका पाठ क्या है ?

[२]

आदमीका मन भी अजीब चीज है। सोच रहा था अठन्नीकी बात और जा पहुँचा लक्सर स्टेशन। १९३५-३६ की वात है। एक मुसाफिर स्टेशन मास्टरके पास आया। उसकी गाडी छूट गई थी। रातभर उसे स्टेशनपर रहना था, पर उसके पास पाँच हजार रुपये और इतनेका ही जेवर था। स्टेशन मास्टरने उसे भरोसा दिलाया और वेटिंग रूममे सुला दिया। साथ ही एक भगीको इसके लिए भी तैयार कर दिया कि वह रातमे दो वजेके बाद उसे कत्ल कर दे !

स्टेशन मास्टरका लडका सिनेमा देखकर सहारनपुरसे लौटा, तो पिताके डरसे घर न जा, उसी वेटिंग रूममे घुस आया और उसने उस मुसाफिरको बाहर निकाल दिया।

ठीक समयपर भगी आया और अपना काम कर गया, पर मुसाफिरके पास न रुपये निकले, न ज़ेवर। स्टेशन मास्टरने आकर देखा, तो उसका लडका मरा पडा था और वह मुसाफिर बाहरके टी स्टालपर चाय पी रहा था !

वही खोटी अठन्नीकी बात कि स्टेशन मास्टरके मनमे एक बुरी वृत्ति पैदा हुई। उसने उस बुरी वृत्तिसे दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए उसे वाहर फेका, पर उसने वाहर आनेवालेका कोई नुकसान न कर, स्वय उसका ही गला दवोच लिया; यानी खोटी अठन्नी फिर अपनी ही जेवमे लौट आई।

मुझे याद आगये मेरे मित्र डाक्टर व्रजमोहन गुप्त। एक वार उन्होने वातो-वातोमे वताया था कि स्वामी विवेकानन्दने अपनी एक पुस्तकमे वडे मार्केकी वात लिखी है कि विजली चौकोर चलती है और वह जहाँसे चलती है, चारो ओर घूमकर अन्तमे वही आ टिकती है। यही हालत हमारी मनोवृत्तियोकी है। मान लीजिए रामूके हृदयमे श्यामूके प्रति क्रोध, घृणा या ईर्ष्याकी प्रवृत्ति पैदा हुई। वह प्रवृत्ति श्यामूको स्पर्श करेगी, प्रभावित करेगी, पर लौटकर रामूके हृदयमे ही आ समायगी। इस प्रकार उस वृत्तिसे श्यामूका कम और रामूका ही अधिक नुकसान होगा।

यह कितनी विचित्र, पर महत्त्वपूर्ण बात है कि हम जव दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए उफनते है, तो अपना ही नाश कर रहे होते है और समझते यह रहते है कि हम पूरी तरह सुरक्षित है।

भावनाको भाषाका रूप देते हुए मैने सोचा—किसीके लिए भी अपने मनमे कडवाहटको, हिंसावृत्तिको, जन्म न लेने दो, भले ही वह तुम्हारा शत्रु हो, क्योकि वह हिसावृत्ति यदि शत्रुका नाश करेगी, तो तुम्हारा सर्व-नाश करेगी, और वह भी इस तरह कि तुम उसे पहचान भी न पाओ।

मेरे मनमे तभी एक चमत्कारी विचार आया—तो क्या अपने किसी विरोधीको क्षमा कर देना, उसपर कृपा करना नही, किन्तु अपनेको क्रोध और प्रतिशोधकी प्रचण्ड वृत्तियोमे झुलसनेसे वचाना ही है?

[३]

उनकी मृत्यु हुए कई साल हो गये, पर मुझे लगा कि ठाकुर चन्दनसिह

कहींसे मेरे पास आ बैठे हैं। कभी वे रुस्तमे हिन्द जैसे थे, पर आज हड्डियोके ढाँचेपर खाल मढी थी। पहले जो चेहरा कपूर था, आज तवा हो रहा था। उनके होठ आज भी हँसते थे, पर यह हँसी भी कुछ हँसी थी! पहले वे हँसते, तो लगता कि मोतियोकी बोरी खुल गई और आज, जैसे वे अपने रोनेको खुद ही रग रहे हो!

देखकर जी धक रह गया—"यह आपको क्या हो गया ठाकुर साहव ?" मैंने पूछा, तो बोले—"मै अपनी जलाई आगमे झुलस गया भाई साहव! आपको याद होगा कि हमारे गाँवमे एक बार ननकू और बुन्दामे मनमुटाव हो गया। दोनोके खेत पास-पास थे। फसल सोना हुई खडी थी। ननकू एक दिनको कही रिश्तेदारीमे गया, तो बुन्दाने उसके खेतमे पतगा फेक दिया और वुराईसे बचनेको गाँवकी चौपालपर आ बैठा। उधर हवा पलटा खा गई और आगकी लपटे बुन्दाके खेतमे आ खिली।

यही हाल मेरा हुआ। मेरा छोटा भाई वडा होनहार था। उसने वडी तरक्की की। आनरेरी मैजिस्ट्रैट हो गया और वडे-वडे अफसर उसके घर आने लगे। मुझसे यह वर्दाश्त न हुआ, ईर्ष्या मेरे भीतर दहक उठी। वात यह हुई कि लोग उसे मेरा छोटा भाई न कहकर, मुझे उसका वडा भाई कहने लगे। इसे मैंने अपना अपमान समझा और मेरे भीतर क्रोध प्रचण्ड हो उठा, पर भला मैं उसका क्या विगाड सकता था। वह तो अपने गुणोके कारण नाम पा रहा था।

मेरे भीतर हर समय आग जलती और मै हरेकसे खाता-फाडता वोलता। इससे जो मेरे थे, वे भी गैर हो गये। मेरी स्त्री मुझे छोडकर अपने पिताके घर चली गई और लडका आवारा हो गया। मैं हर समय भाईको मिटानेके मनसूबे वाँधता, पर खुद मिटता जाता। अन्तमे मुझे टी० वी० हो गई। छोटे भाईने मेरी वहुत सेवा की, पर उस सेवासे भी मुझे शान्ति न मिली।

में नौकरको लालच देकर अपना जूठा दूध भाईको पिला देता, जिससे उसे भी टी० बी० हो जाय, पर भाई, उसके भीतर शान्ति थी, वह लहलहाता रहा, मेरे भीतर आग थी, मैं जलता रहा और एक दिन सचमुच जल गया !!"

[४]

ठाकुर चन्दन सिंहकी कहानी सुनी तो मुझे याद आगई—मेरे मित्रकी पत्नी ज्ञानदेवी। वह अपनी सहेलीके प्रेमीको प्यार करने लगी। कुछ दिन तीनोंमें पूरा सद्भाव रहा, पर बादमें ज्ञानदेवीके मनमें यह दुर्भावना जागी कि उसे ही मोनापोली मिल जाय और उसने उन दोनोंके बीचमें जहर बोने शुरू किये। वह जहर बोती, सींचती, उसमें अंकुर भी आते, पर वे पनप न पाते।

ज्ञानदेवी अपनी असफलता देखती, उफनती, गरजती, धूल उड़ाती और हाय-हाय करती। उसका मीठा बोल, कड़वा हो गया, चेहरा रूखा हो चला और आदत लड़ाकू। वह तेजीके साथ प्रचण्ड होती गई और एक दिन उसपर गठियाका ऐसा आक्रमण हुआ कि वह लुंज हो पड़ी। वह विदुषी अपने रोगका मनोवैज्ञानिक कारण समझती थी, अपने मनको बदलनेके प्रयत्न भी करती थी, पर उसकी प्रचण्डता उसे फिर आ घेरती थी। बहुत दिनोंतक वह यों ही झटके खाती रही। पता नहीं फिर उसकी नाँव किस किनारे लगी।

[५]

एक और महिलाके सम्बन्धमें मेरा निजी अनुभव है कि वह अपनी एक सहेलीसे घृणा करने लगी। यह घृणा बढ़कर प्रचण्ड होती गई और इसका आश्चर्यजनक फल यह हुआ कि उस महिलाकी खाल सख्त होगई—उसका कोमल स्पर्श रूखा होता चला गया।

उन्होने इसके लिए विटामिनकी बहुत गोलियाँ खाई, पर उन्हीके शब्दोमे उनकी खाल आदमीसे हाथीकी होती गई। खालके साथ ही उनकी आकृतिपर भी इसका प्रभाव पडा और वे जैसे पुरुष हो चली। चेहरेकी सारी लुनाई जाती रही, परुषता आगई और आश्चर्यकी बात है कि उनकी हँसीकी मीठी खिलखिल एक करख्त खाँ-खामे बदल गई।

बीचमे बहुत दिन उनसे मिलना नही हुआ, पर इसके बाद एक दिन बातचीत हुई, तो देखा कि उनकी वह परुषता अब चेहरेपर नही है और क्या बातचीत, क्या हँसी, सभीमे पुरानी मिठास लौट आई है।

मैंने जरा बचकर पूछा—"अब तो आपका स्वास्थ्य अच्छा है!"

"और इसका श्रेय आपकी दवाको है!" वे खिलकर कह उठी, तो मै भौचक! अत्यन्त गम्भीर होकर उन्होने कहा—"वह सब मेरे भीतर उमडी घृणाकी प्रचण्ड वृत्तिका फल था। इसीलिए किसी औषधने काम नही किया, पर अचानक एक दिन मैंने आपकी छोटी कहानी पढी—'झरना हँसा'—और बस मेरा जीवन बदल गया, मेरी घृणा पिघल गई और धीरे-धीरे मैं कोमल होती चली गई।"

जहाँ मतभेद हो, विरोध हो, झगडा-झझट हो, वहाँ भी प्रेम करो, सेवा करो, सहो और यह सम्भव न हो, तो उपेक्षा करो, तटस्थ होकर वह फाइल सामनेमे सरका दो, पर ईर्ष्या न करो, क्रोध न करो, घृणा न करो। ये वृत्तियाँ हृदयमे जाग ही उठे, तो उन्हे स्थायी न होने दो, प्रचण्ड न होने दो, अपनेपर उन्हे छाने न दो। विवेकसे, विचारसे, सहिष्णुतासे, उन्हे दूर भगा दो, उन्हे शान्त कर दो, क्योकि ये उस आगकी लपटे है, जो जलाई जाती हैं दूसरोको फूँकनेके लिए, पर फूँकती है सिर्फ अपनेको ही। ये ऐसे विष-बुझे तीर है, जो चलाये जाते है, दूसरोका सहार करनेके लिए, पर चारो ओर घूमनेके बाद ये काटते हैं उसी हाथको, जिसका बल पा धनुपसे छूटते है।

एक था पेड़ और एक था ठूँठ !

जिस मकानमे मै ठहरा, उसकी खिडकीके सामने ही खडा था एक पूरा पनपा बॉझका पहाडी पेड। पलगपर लेटे-लेटे वह यो दीखता कि जैसे कुशल-समाचार पूछनेको आया कोई मेरा ही मित्र हो।

एक दिन उसे देखते-देखते इस बातपर मेरा ध्यान गया कि यह इतना बडा पेड हवाका तेज झोका आते ही पूराका पूरा इस तरह हिल जाता है, जैसे वीनकी तानपर कोई सॉप झूम रहा हो और इसका ऊपरका हिस्सा हवा जब और भी तेज हो जाती है, तो काफी झुक जाता है, पर हवाके हल्का पडते ही वह फिर सीधा हो जाता है।

हवा मौजमे थी, अपने झोकोमे झूम रही थी, इसलिए बराबर यही क्रिया होती रही और मै उसे देखता रहा। देखता क्या रहा, उसकी झुक-झूममे रस लेता रहा। पडे-पडे वह पेड पूरा न दीखता था, इसलिए मै पलगसे खिडकीपर आ बैठा। अब मुझे वह पेड जडसे फुगलतक दिखाई देने लगा और मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा कितनी भी तेज हो, पेडकी जड स्थिर रहती है—हिलती नही है।

यही बैठे, मेरा ध्यान एक दूसरे पेडपर गया, जो इस पेडसे काफी निचाई-मे था। पेड क्या था, पेडका ठूँठ था—ठूँठ, सूखा वृक्ष और सूखा वृक्ष माने निर्जीव-मुर्दा वृक्ष। सोचा—यह वृक्षका ककाल है, जैसा एक दिन सभीको होना है ! अब मै कभी इस हरे-भरे पेडकी ओर देखता, कभी उस सूखे ठूँठकी तरफ। यो ही देखते-भालते मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा धीमे चले या वेगसे, यह ठूँठ न हिलता है, न झुकता है।

न हिलना, न झुकना, मनमे यह दो शब्द आये और मैने आप ही आप इन्हे अपनेमे दोहराया—न हिलना, न झुकना।

दूर अन्तरमे कुछ स्पर्श हुआ, पर वह स्पर्श सूक्ष्म था, यो ही सकेत-सा। शब्द चक्कर काटते रहे—न हिलना, न झुकना और तब आया यह वाक्य—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका, दृढताका चिह्न है और वह वीर पुरुप है, जो न हिलता है, न झुकता है।

तभी मैंने फिर देखा उस ठूँठकी ओर। वह न हिल रहा था, न झुक रहा था! मनमे अचानक प्रश्न आया—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न है, पर इस ठूँठमे जीवन कहाँ है? यह तो मुर्दा पेड है!

अब मेरे सामने एक विचित्र दृश्य था कि जो जीवित था, वह हिल रहा था और जो मृतक था वह न हिल रहा था, न झुक रहा था। तो न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न हुआ या मृत्युकी जडताका?

अजीव उलझन थी, पर समाधान क्या था? मै दोनोको देख रहा था, देखता रहा और तव मेरे मनमे आया कि जो परिस्थितियोके अनुसार हिलता-झुकता नही, वह वीर नही, जड है, क्योकि हिलना और झुकना ही जीवनका चिह्न है।

हिलना और झुकना, अर्थात् परिस्थितियोसे समझौता। जिस जीवनमे समझौता नही, समन्वय नही, सामजस्य नही, वह जीवन कहाँ है? वह तो जीवनकी जडता है, जैसे यह ठूँठ और जैसे यह पहाडका शिखर।

मुझे ध्यान आया कि जीते-जागते जीवनमे भी एक ऐसी मनो-दशा आती है, जब मनुष्य हिलने और झुकनेसे इकार कर देता है। अतीतमे रावण और हिरण्यकश्यप इस दशाके प्रतीक थे, तो इस युगमे हिटलर और स्टालिन, जो केवल एक ही मतको सही मानते रहे और वह स्वय उनका ही मत था। आजकी भापामे इसीका नाम है डिक्टेटरी-अधिनायकता।

विश्वकी भाषा है—दे, ले।

विश्वकी जीवन-प्रणाली है—कह, सुन।

विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना।

इन तीनोका समन्वय है—हिलना-झुकना और समझौता-समन्वय। जिसमे यह नही है, वह जड है; भले ही वह इस ठूँठकी तरह निर्जीव हो या रावणकी तरह जिद्दी।

मेरी खिडकीके सामने खडा हिल रहा था बॉझका विशाल पेड और दूर दीख रहा था वह ठूँठ। समयकी बात, तभी पासके घरसे निकला एक मनुष्य और वह अपनी छोटी कुल्हाडीसे उस ठूँठका एक छोटा टहना काटने लगा। सामने ही दीख रही थी सडक, जिसपर अपनी कुदालसे काम कर रहे थे कुछ मजदूर।

कुल्हाडी और कुदाल, कुदाल और कुल्हाडी—मैंने बार-बार इन शब्दोको दोहराया और तब आया मेरे मनमे यह वाक्य—विश्वकी भाषा है—दे, ले, विश्वकी जीवन-प्रणाली है कह, सुन, विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना, अर्थात् हिल भी और झुक भी, पर जो इन्हे भूलकर जड हो जाता है, वह ठूँठ हो, पर्वतका शिखर हो, अहकारी मानव हो, विश्व उससे जिस भाषामे बात करता है उसीके प्रतिनिधि है ये कुल्हाडी-कुदाल।

साफ-साफ यो कि जीवनमे दो भी, लो भी, कहो भी, सुनो भी, मानो भी, मनाओ भी, और यह सब नही, तो तैयार रहो कि तुम काट डाले जाओ, खोद डाले जाओ, पीस डाले जाओ।

मै खिडकीसे उठकर अपने पलगपर आ पडा। बॉझका पेड अब भी हिल रहा था, झुक रहा था झूम रहा था, पर तभी मेरे मनमे उठा एक प्रश्न—तो क्या जीवनकी चरितार्थता बस यही है कि जीवनमे हवाका झोका आया और हम हिल गये? जीवनमे सघर्षका झटका आया और हम झुक गये? साफ-साफ यो कि क्या यहाँ-वहाँ हिलते-झुकते रहना ही महत्त्वपूर्ण है और जीवनकी स्थिरता-दृढता जीवनके नकली सत्य ही है?

प्रश्न क्या है, कम्बख्त विजलीका तेज शॉक है यह, जो यो थकियाता है कि एक बार तो जडसे ऊपरतक सब पाया-मजोया अस्तव्यस्त हो उठे। सोचा—नही जी, यह हिलना और झुकना जीवनकी कृतार्थता नही, अधिकसे अधिक यह कह सकते है कि विवशता है। जीवनकी वास्तविक कृतार्थता तो न हिलना, न झुकना ही है, यानी दृढ रहना ही है—"मरियम सो मरियम, पैं टरियम नही।"

मैं अपने पलगपर पडा देखता रहा कि बाँझका पेड झुक रहा है, झूम रहा है, हिल रहा है और दूरपर खडा ठूंठ न हिलता है, न झुकता है। जीवन है वृक्षमे, जो जीवनकी कृतार्थता-दृढतासे हीन है और वह दृढता है ठूंठमे, जो जीवनसे हीन है, अजीव उलझन है यह !

तभी हवाका एक तेज झोका आया और बाँझ हिल उठा। मेरी दृष्टि उसकी झूमती देह-यष्टिके साथ रपटी-रपटती उसकी जडतक चली गई और तब मैने फिर देखा कि हवाका झोका आता है, तो टहनियाँ हिलती है, तना भी झूमता है, पर अपनी जगह जमी रहती है उसकी जड। हवाका झोका हल्का हो या तेज, वह न झुकती है, न झूमती है।

अब स्थिति यह कि कभी मैं देख रहा हूँ स्थिर जडको और कभी हिलते-झूमते ऊपरी भागको। लग रहा है कि कोई बात मनमे उठ रही है और वह उलझनको सुलझानेवाली है, पर वह बात क्या है ?

बात मनकी तहसे ऊपर आ रही है—ऊपर आगई है।

बात यह है कि हमारा जीवन भी इस वृक्षकी तरह होना चाहिए कि उसका कुछ भाग हिलने-झुकनेवाला हो और कुछ भाग स्थिर रहनेवाला, यही जीवनकी पूर्ण कृतार्थता है।

बात अपनेमे पूर्ण है, पर जरा स्पष्टता चाहती है और वह स्पष्टता यह है कि हम जीवनके विस्तृत व्यवहारमे हिलते-झुकते रहे, समन्वयवादी

रहे, पर सत्यके, सिद्धान्तके प्रश्नपर हम स्थिर रहे, दृढ रहें और टूट भले ही जाएँ, पर हिले नही, समझौता करे नही।

जीवनमे देह है, जीवनमे आत्मा है। देह है नाशशील और आत्मा है शाश्वत, तो आत्माको हिलना-झुकना नही है और देहको निरन्तर हिलना झुकना ही है, नही तो हम हो जाएँगे रामलीलाके रावणकी तरह, जो बाँसकी खपच्चियोपर खडा रहता है—न हिलता है, न झुकता है। हमारे विचार लचीले हो, परिस्थितियोके साथ वे समन्वय साधते चले, पर हमारे आदर्श स्थिर हो। हमारे पैरोमे जीवनके मोर्चेपर डटे रहनेकी भी शक्ति हो और स्वय मुडकर हमें उठने-बैठने-लेटनेमे मदद देनेकी भी।

■ सक्षेपमे जीवनकी कृतार्थता यह है कि वह दृढ हो, पर अडियल न हो।

■ दृढ, जो औचित्यके लिए, सत्यके लिए टूट जाता है, पर हिलता और झुकता नही।

■ अडियल, जो औचित्य और अनौचित्य, समय-असमयका विचार किये विना ही अड जाता है और टूट तो जाता है, पर हिलता-झुकता नही।

■ दो टूक बात यो कि जीवन वह है, जो समयपर अड भी सकता है और समयपर झुक भी, पर ठूँठ वह है, जो अड ही सकता है, झुक नही सकता।

■ एक है जीवन्त दृढता और दूसरा निर्जीव जडता।

■ हम दृढ हो, जड नही।

मैने देखा—बाँझका पेड अब भी हिल रहा था, झुक रहा था और ठूँठ अनझुका, अनहिला, ज्योका त्यो खडा था।

लीजिए, आदमी बनिए !

"कहो भाई आजकल क्या ठाठ है ?"

"ठाठ ? अरे भाई, ठाठ होगे ठाठ वालोके, यहाँ तो आज टाट ही टाट है।"

"टाट ही सही, पर तुम्हारा गला क्यो सूख रहा है ? तुम तो इस तरह कह रहे हो, जैसे ठाठ तो होती है कोई बडी चीज और टाट होता है यो ही कूडा-कच्चर। भाई जान, टाट माने जूट और जूट हमारे देशका एक खास उद्योग है। खैर, छोडो यह पहेली-बुझौवल और यह बताओ कि तबीयत टाइट क्यो है और लो छोडो तबीयतको भी सिर्फ यह बताओ कि यो टूलते-झूलते तुम आ कहाँसे रहे हो ?"

"भैया, स्टेशनसे आ रहा हूँ।"

"अच्छा जी, तो अब कैंची-कमीशनके मेम्बर हो गये हो तुम, पर याद रखना एक दिन सरकारी गाडीमे बडे घर जाओगे। यो घूर क्यो रहे हो ? लो, हम अपनी बात वापस लेते है। यह कोई पुराना जमाना थोडा ही है कि जब तलवारका घाव भर जाता था, बातका नही। यह नई रोशनी है कि सौरी कहते ही बात खत्म हो जाती है। लो, हमने कैंची-कमीशनकी मेम्बरीसे भी तुम्हे बरी कर दिया, अब तुम साफ-साफ यह बताओ कि स्टेशन क्यो गये थे और वहाँसे लटके-झटके क्यो आ रहे हो ?"

"दिल्ली जानेको स्टेशन गया था, पर गाडी नही मिली और गाडी क्या नही मिली, टिकट ही नही मिला। बात यह हुई कि मेलेके कारण भीड बहुत थी और क्यू बन नही पाया। मै अपनी आदमियतसे मजबूर, एक तरफ खडा रहा कि क्यो धक्का-मुक्की करूँ; बस गाडी छुक-छुक कर गई और मेरा नबर ही नही आया।"

"तो बाबूने टिकट बाँटना देरीसे आरम्भ किया होगा। तुमने उसकी गर्दनपर मालिश क्यो नही की?"

"जी, निवेदन यह है कि उसकी गर्दन और मेरी भुजाके बीचमे सरकारने अक्लमन्दीसे काम लेकर लोहेका एक मजबूत जगला लगा दिया है, वरना आपके उपदेशके अनुसार गर्दनकी मालिश तो होती-न-होती उसके पर्सकी पालिश हो चुकी होती। वैसे सचाई यह है कि उस बेचारेकी मालिश-पालिशका यह मौका ही न था, क्योकि जब यात्री लोग गाडीके छूटनेका समय होनेके बाद ही घरसे चलनेकी आदत रखते हो, तो उसका समयसे काम करना, क्या काम दे?"

"ठीक है, तो बाबूजी बेकसूर थे और यह खुद तुम्हारा कसूर है कि गाडी चलती-फिरती नजर आई, पर तुम खम्भे-से वही खडे रहे।"

"जी, तो आदमी बननेकी कोशिश करना, आदमियतसे काम लेना भी अब कसूर हो गया?"

"माफ कीजिए भाई साहब, आप दूसरेके बोल मेरे मुँहमे रख रहे है। मैंने यह नही कहा कि आदमी बननेकी कोशिश करना कसूर है। मेरा भाव तो यह है कि इस नये युगमे पुरानी आदमियतसे काम लेना कसूर है और जाने दीजिए कसूरकी बात, उससे अब सफलता नही मिल सकती. जैसाकि आपको नही मिली। ठीक भी है, दिसम्बर-जनवरीमे तीन-सेरा लिहाफ न ओढो, तो नमूनिया निमन्त्रणकी प्रतीक्षा किये बिना ही फेफडोकी खिडकीमे आ झाँकता है, पर वही लिहाफ मई-जूनमे ओढा जाय, तो पाँच मिनटमे स्टीम बाथका मजा आ जाता है।"

"तो भले आदमी, आदमियत भी नई पुरानी होती है?"

"जी हाँ, जमाना नया तो आदमियत नई और आदमियत नई, तो आदमी बननेके नुस्खे नये। मै न पुराने जमानेका तीसमारखाँ हूँ, न इस

जमानेका राममूर्त्ति, फिर भी कभी और कही झापड नही खाता—बताओ कभी चूकता है निशाना ? किसीकी वही देख लो या किसीका लेजर, हमारा नाम अच्छे आदमियोमे लिखा मिलेगा और यह सब कोई चमत्कार नही है, जादू नही है,सिर्फ आदमी बननेके नये नुसखोका असर है।"

"तो भाई, हमे भी बताओ आदमी बननेका नया नुसखा, आज तो जो बीती, सो बीती, पर फिर तो न बीते।"

"बहुत अच्छा, अगर आप हमे गुरु बनानेपर उतारू हो गये है, तो जरूर बाँधेगे आपको कठी और कठी क्या, लीजिए आपकी दीक्षा ही हम टिकट खरीदनेके महामन्त्रसे आरम्भ करते है।

टिकट खरीदते समय आदमी बननेका पुराना नुसखा तो वह था, जो तुमने आजमाया, पर यह नया नुसखा वह है, जो एकबार सोमवती अमावस्यापर मैने आजमाया था। गर्मीका मौसम और सोमवतीका स्नान, भला फिर हरद्वार जानेको किसका जी है, जो जाऊँ-जाऊँ न करे और हम तो ठहरे पुरुष, जी पर जब्त भी कर ले, पर श्रीमतीजीको रोकना, तो गगाकी धारको रोकना-टोकना है। खैर साहब, हम पहुँच गये स्टेशन, पर टिकट-घरकी खिडकीपर जो ध्यान गया, तो सच मानिए कुरुक्षेत्रका दृश्य दिखाई दिया—धक्कम-धक्का तो था ही, धमाधसी भी थी और शोर-शराब्बा भी। दूरसे देखो, तो लगता था कि अच्छी-खासी रस्साकशी हो रही है।

सामानके पास बैठाया श्रीमतीजीको और स्वय सरके खिडकीकी तरफ, खिडकीपर पहुँचना तो सम्भव ही न था, इसलिए पासकी दूसरी खिडकीपर जा टिके। वहाँसे वह बाबू दिखाई देता था और भीड भी दूर न थी। क्यू लगा हो, तो जल्दी-जल्दी टिकट मिलते है और भीड हो तो देर लगती ही है। लोगोने इस देरीको बाबूकी ढील समझा और २-४ उसे गरम

गरम बोल बोले। बस मेरे लिए यही अवसर था कि अपना नया नुसखा पिलाऊँ और आदमी बनकर काम साधूं।

मैंने ऊँची आवाजसे कहा—भाइयो, भीड, तो तुम खुद करते हो और कसूर बताते हो बाबूजीका, यह अजीब बात है। वे बेचारे खाली बैठे सिगरेट तो नही पी रहे, काम ही कर रहे हैं। सुबहसे काममे जुटते हैं, खडे-खडे पैरोमे खून उतर आता है ज.ा इसपर भी तो ध्यान दो।

मैंने देखा, टिकट बाबूके मनपर मेरी बातका यह असर हुआ कि वे प्रसन्न हुए। तभी मैंने उनकी ओर देखकर कहा—बाबूजी, आप लोगोकी बातका बुरा न माने। बात यह है कि अब सरकार जनताकी है, इसलिए जनताके लोग सरकारी आदमियोको अपने घरका ही आदमी समझते है और बाबूजी, अपनोके लिए तो गुस्सा भी प्यार होता है।

मैंने देखा कि भीडपर भी मेरी बातका अच्छा असर पडा और रेल-पेल जरा कम हो गई।

थोडी देर बाद जरा फिर तेजी आई तो मैंने ऊँची आवाजमे कहा—भाइयो, बाबूजी हवाकी तरह टिकट दे रहे हैं। घबराओ मत, सबको टिकट मिल जायगा और किसीकी गाडी नही छूटेगी।

भीडमे शान्ति आ गई और बाबूजीने मेरी तरफ नरम आँखोसे देखा तो मैंने उसी खिडकीसे रुपये भीतर डालकर अगुलियोके इशारेसे दो टिकट माँगे और वे मुझे मिल गये। लोग अब भी ठुके-से खडे थे और मै श्रीमतीजीके साथ भीतर प्लेटफार्मपर आ गया था।

यह है भाईजी, आदमी बननेका नया नुसखा कि बाबूजी भी खुश, जनता भी खुश और हम भी खुश—आमके आम, गुठलीके दाम। भीड भी मान गई कि कोई आदमी है और बाबू जी भी। कहो मानते हो या नही ?"

"मान गये साहब, न माननेकी इसमे गुजायश कहाँ है, पर—"

"पर-वर इसमे कुछ नही, बस पर इतना ही है कि इस नुसखेका अदल-बदलकर पिया-पिलाया जाता है। यह हकीम पन्नालालका वनफ्शा नही कि हमेशा उसमे बताशे ही डाले जाएँ, इसमे कभी बताशे पडते है, तो कभी मिश्री और कभी गुड।

यो टुकुर-टुकुर क्या घूर रहे हो मुझे ? लो मिश्री, बताशे और गुडका भेद समझाता हूँ तुम्हे। उस दिन प्रदर्शिनी देखने जा रहे थे। स्टेशन आये तो टिकट-घरपर भीड। सोमवतीवाली भीड नही, समझदार भीड—क्यूमे खडी, पर मुसीबत यह कि क्यू इतना लम्बा कि उसमे खडे हो, तो हमारा नम्बर चालीसवॉ। हम सीधे खिडकीके पास पहुँचे और ऊँची आवाजसे क्यू वालोसे कहा—भाइयो, मै मजबूरीमे आपका नम्बर ले रहा हूँ। ऐसा करना मेरा हक नही है। यह आपकी मेहरबानी है। आपका समय कुछ मुझसे कम कीमती नही है। वे पसीज जाते है और मै बेनम्बर ही टिकट ले, मुसकराता हुआ चला आता हूँ। इस नुसखेका मोल यह नही है कि टिकट मुझे पहले मिल गया, पर यह है कि उन्हे वेवकूफ वनानेपर भी वे मुझे एक आदमी मान लेते है—जी हॉ, एक आदमी।"

"आपके यह टिकट खरीदनेके नुसखे तो सचमुच हकीम पन्नालालके नुसखोसे भी ज्यादा रामबाण है, पर ।"

"फिर वही पर, पर-वर इसमे कुछ नही, सिर्फ पर इतना है कि ये नुसखे टिकट खरीदनेके नही, आदमी बननेके है। यह बहुत बारीक भेदकी बात है। राजा भोजका समय होता, तो इस भेदकी बातपर सोनेकी सैकडो मोहरे बरस पडती, पर लो, तुम्हे बिना दक्षिणाके ही यह भेद बता रहा हूँ। बात यह है कि हर आदमी दूसरे आदमीको अपनेसे हीन समझता है। अब आवश्यकता यह है कि हमारी बात और काम ऐसे हो कि वह हमे श्रेष्ठ माने। इसका नाम है आदमी बनना, तो अवसर टिकट खरीदनेका हो या

किसी और वातका, खास बात है आदमी बनना, अपनी श्रेष्ठताका सिक्का दूसरेके दिलपर बैठाना। बस, इतना यही और समझ लो कि श्रेष्ठताका यह सिक्का कभी तो बैठता है चरित्रकी ऊंचाईसे और कभी उपयोगितासे। कहो, है न गहरे भेदकी बात ?"

"हाँ, वात तो वाकई गहरे भेदकी है, पर हमारी समझमे यह भेद अभी बैठा नही है। तुम एक-दो अनुभव और सुनाओ, तो काम चले।"

"अनुभव ? अनुभव एक दो नही, एक-सौ सुनो अनुभव भी एक-से-एक और एक-सौ-एकके। अपनी ही बात कहे जाना ठीक नही है, इसलिए आप-बीतीके बाद जगबीतीका भी एक नमूना लो—

ठाकुर शीशमसिहको तो तुम जानते हो ? हाँ, हाँ, वे ही नगलीकलाँ वाले। क्या राय है तुम्हारी उनके बारेमे ? लो, अपने प्रश्नका उत्तर भी मै ही दिये देता हूँ कि बहुत अच्छे आदमी है और यह तुम्हारी-मेरी ही राय नही, सारे इलाकेकी राय है। अब म पूछता हूँ तुमसे कि क्या उनके चरित्रमे कोई ऐसी ऊँचाई है कि सारी दुनिया उनका मान करे, उन्हे आदमी माने ? आपका जवाब है नही और यही जवाब है मेरा भी, तो बस यह सब आदमी बननेके नुसखोका ही असर है। आपको याद होगा हकीम पन्नालाल बहुत साफ-सुथरे कागजपर नुसखे लिखा करते थे, ठाकुर शीशमसिह भी बहुत सफाईसे नुसखे लिखते है, पर खास बात यह है कि न उसमे होता है चिरायता, न गिलोय, न सौंफ, न अजवायन, उसमे होता है नमस्ते और भवदीय।"

"नुसखेमे नमस्ते और भवदीय होता है ?"

"हाँ जी, नुसखेमे नमस्ते और भवदीय होता है और लो, उलझनेकी कोई बात नही; बात है सिर्फ यह कि १९४२ मे एक फरार क्रातिकारी छिपकर उनके यहाँ रहा था। अब वह पहुँच गया एक ऊँचे पदपर और इनका लिहाज

करता है। उसके कारण इनकी और भी चार बडे आदमियोसे जान-पहिचान हो गई है। अब ठाकुर साहब इन्ही लोगोके नाम सिफारिशी खत लिखा करते है। किसीका मुकदमा हो या परमिट, पासपोर्ट हो या मेम्बरी, बेटेकी नौकरी हो या बेटीका रिश्ता, ठाकुर साहबका खत ले जाइए—वे खत देनेसे कभी इन्कार न करेगे। बस ठाकुर साहब सबके लिए आदमी बने हुए है।"

"तो उनके खतसे सबका काम बन जाता है?"

"भाई जी, मै बता रहा हूँ तुमको आदमी बननेके नुसखे और तुम बने जा रहे हो चुकन्दर खान। अरे मियाँ, सबके सब काम तो ईश्वर भी नही कर सकता, फिर आदमी क्या चीज है, सोचो तो! इन पत्रोमेसे कुछ तो रद्दीकी टोकरीमे फेक दिये जाते है और पत्र ले जानेवालोकी बात भी कोई नही पूछता, कुछका यह असर होता है कि पत्र लानेवालोकी बात सुन ली जाती है और उन्हे चलताऊ आश्वासन मिल जाता है—भले ही आगे जाकर नाव डूब जाय, और कुछका काम हो जाता है—शायद पत्र न ले जानेपर भी वह हो जाता, पर रहस्य यह है कि ठाकुर साहबको किसीके काम होने या न होनेसे कोई मतलब ही नही, वे तो आदमी इसलिए बन गये है कि सबकी बात हमदर्दीसे सुनते है और सबकी मददको तैयार रहते है। फिर जिन-जिनकी बात कुछ पूछ ली जाती है या जिनका काम हो जाता है, वे तो ठाकुर साहबके चारण हो ही जाते है, पर जिनकी बात नही पूछी जाती और वे लौटकर शिकायत करते है, तो ठाकुर साहब समयका रोना रो देते है कि इस आदमी पर इतने ऐहसान किये है, पर अब बडा आदमी बन गया, तो दिमाग ही नही सभलता उससे! ठाकुर साहबका नुसखा कामयाब है या नही?"

"वाह साहब वाह, यह तो आपने गजबकी बात सुनाई।"

"इसमे न कुछ गजब है, न अजब, हॉ, बात जरूर है और बात भी है नुसखेकी और नुसखा भी कोई ऐसा-वैसा नही, आदमी बननेका है। यह

नुसखा बहुत लोग जानते है, पर इसे सब अपने-अपने ढगपर बॉधते है, यही इसकी विशेषता है। हनुमानजी की बगीचीमे जो स्वामीजी रहते है, वे इसे एक तीसरे ही रूपमे प्रयोग करते है। उनके बारेमे मशहूर है कि अफसरोपर उनका बहुत असर है। बस मुकदमेवाले उन्हे घेरे रहते है और मजा यह कि दोनो पक्षवाले उनसे मदद चाहते है। वे दोनोको आश्वासन दे देते है, पर उन्होने एक बार भी कभी किसीकी सिफारिश नही की—हारने वाला हार जाता है और जीतनेवाला जीत जाता है।"

"तब तो उनका नुसखा फेल रहा, क्योकि हारनेवाला तो उन्हे गाली देता ही होगा भाई साहब?"

"प्रश्न तुम्हारा ठीक है, पर कतई बे-ठीक है, क्योकि तुम मनोविज्ञान पढे ही नही हो। अरे भाई, जो हार गया, वह दुखसे इतना दब जाता है कि उसे स्वामीजीकी चर्चा करनेकी कहाँ फुरसत? और जो जीत गया, वह उत्साहमे है, चार जगह मुकदमेकी बात करता है, तो स्वामीजीकी वन्दना हो ही जाती है और यो स्वामीजी आदमी बने रहते है आज भी कल भी।

सचाई यह है कि इस मामलेमे तिलकी ओट पहाड है। लो, उठते-उठते तुम्हे अपना ही एक नुसखा पिलाता हूँ। जब मै किसी दूकानसे कोई सामान खरीदता हूँ और दूकानदार सामान तोलने लगता है, तो दूसरी तरफ मै इस तरह मुँह फेर लेता हूँ, जैसे मै उसे देख ही नही रहा, पर कनअँखियोसे उसे देखता रहता हूं। अब जो उसने नीता तोल दिया, तो ठीक, पूरा तोल दिया, तब भी कोई बात नही, पर डण्डी खिची देखी, तो कहता हूँ—लालाजी, आपके तो हाथ ही तुले हुए है और फिर जरा कम ही तुल गया तो क्या है, यहाँ भी आपका है, वहाँ भी आपका है और बस मै देखता हूँ कि डण्डी नी गई है। इस तरह सामान भी मुझे पूरा मिल जाता है और मै दूकानदारकी निगाहमे आदमी भी बन जाता हूँ।

अब आया तुम्हारी समझमे नये जमानेकी आत्मीयतका नुसखा?"

— —

अजी, होना-हवाना क्या है ?

जीवनमे कभी-कभी कुछ ऐसी घडियाँ भी आती है, जब किसी काममे जी नही लगता। न सिलसिलेसे कुछ सोचनेको जी चाहता है, न पढनेको और न कुछ करनेको। तन चाहे बहुत थका न हो, पर मन थका रहता है।

तन थका हो, तो नीद उसकी अचूक दवा है, पर इन घडियोमे नीद भी नही आती। दिल और दिमागपर मायूसीका अजीब साया-सा पडा रहता है। आमतौरपर ऐसा तब होता है, जब आदमीके सामने कोई ऐसा मसला पेश होता है कि वह उसे हल नही कर पाता और मजबूरी यह होती है कि बिना हल किये बैठा जा नही सकता, तो आदमी इस उधेड-बुनमे कि फिर होगा क्या ? तब वह सोचते-सोचते इतना थक जाता है कि अब सिलसिलेसे सोचना भी उसके बसका नही रहता।

औरोका भी ऐसा हाल होता होगा, क्योकि यह कोई पेटेन्ट प्रयोग तो है नही कि मेरी ही मिल्कीयत हो और वे इसका कुछ इलाज भी करते होगे, पर मुझे उसकी कोई दवा अभीतक मालूम नही हो सकी। हाँ, एक बात जरूर है कि इन घडियोमे अगर कही किस्मतसे चचा मिल जाएँ, तो पाँच-सात मिनटोमे ही यह मायूसी छूमन्तर हो जाती है और तन-मनका थकान उतर-सा जाता है। तभी तो हम लोग कभी-कभी हँसीमे उन्हे चचा विमटो कहकर, उनके प्रति अपने मनका सम्मान प्रदर्शित किया करते है।

जिन्हे मायूसीका यह दौरा-सा उठता है और कभी-न-कभी यह सभीको उठता होगा, वे सब चाहेगे कि मै चचाका नुसखा उन्हे बता दूँ और वे भी केमिस्ट किचनर या गोविन्द अत्तारसे मँगाकर उससे फायदा उठाये, पर बता

दूं क्या ख़ाक ! चचा न डाक्टर हैं, न हकीम, न वैद्य। यहाँतक कि वे झाड-फूंक करनेवाले ओझा भी नही कि उनका तावीज ही भिजवा दूं।

"फिर क्या हैं वे ?"

यह एक मुनासिब सवाल है। चचा अलताफुर्रहमान एक उर्दू अख़बारके ऐडीटर है। उम्र कोई साठ साल होगी। हमारे शहरमे अगर आप देखे कि पानोसे मसूडे रँगे, एक पुराने अचकनसे तन ढके, सफेद बालोको मेहदीसे लाल किये और टूटे फ्रेमके सफेद चश्मेसे झाँकती आँखोको बरेलीके सुरमेसे आँजे, अपनी पुरानी तुर्की टोपीको जरा-सा बाँकपन दिये, एक बूढे मियाँ कही अपनी छडीको टेकते चले जा रहे हैं, तो समझ लीजिए कि वे हमारे चचा हैं और बस बिना तकल्लुफ आप उनसे बाते कीजिए, चाहे तो उनका नुसखा भी पूछिए। शरमाने या सकुचानेकी जरूरत नही, क्योकि हमारे साथ ही वे आपके भी तो चचा हैं।

"जी, हमारे चचा कैसे ? हमसे तो उन बिचारोकी कभी दीद-शनीद भी नही हुई ?"

ठीक है, आप यह कह सकते हैं और मुझपर नाराज भी हो सकते हैं, पर असलमे नाराजीकी कोई बात नही। मेरे पिता जी उन्हे चचा कहा करते थे, मेरे चचा तो वे है ही और मेरे बच्चे भी उन्हे चचा कहा करते हैं। असलमे वे जगत चचा है और आप भी हैं इस जगत्के ही निवासी, लिहाजा इस हुलियेसे उन्हे पहचानकर आप उन्हे अपना भी चचा मान सकते है और उनसे मायूसी दूर करनेका नुस्खा पूछ सकते हैं।

और कहा तो मैंने अभी आपसे कि वे एडीटर हैं, हकीम-वकीम नही। फिर भी मेरा हवाला देकर आप उनसे नुस्ख़ा पूछ सकते है। जानते हैं आप, वे क्या कहेगे ? सुनते ही जोरसे कहकहा लगाएँगे, दो-चार इधर-उधरकी बाते सुनाएँगे और अन्तमे कहेगे—"यह है तुम्हारा मसला ?

हुँ, पिद्दी न पिद्दीका शोरवा, सिर्फ सायेका भूत है मियाँ, सायेका भूत, इसमे होना हवाना क्या है ?" लीजिए आपसे छिपाना क्या है, बस यही उनका नुस्खा है।

वात यह है कि चचाकी इन बातोमे कुछ ऐसा असर होता है कि मन वदल जाता है, बदल क्या बस वहल जाता है और एक ऐसी ताजगी मनमे उभरती है कि सामनेके झमेलेसे लडनेकी ताकत मिल जाती है।

मान लीजिए आप किसी मसलेसे परेशान हैं और चचा आ गये। आपने उनसे कहा—"चचा, मेरा तो दिल वुझा जा रहा है, आखिर क्या होगा इस मामलेमे।" तो वे पहले जरा मुसकराएँगे और तव कहेगे—"अरे भाई, इसमे होना-हवाना क्या है, दिलका दिया वुझा जा रहा है, तो उठकर उसमे तेल डालो, यानी कुछ पियो!"

"क्या पिये चचा ?" आप पूछ वैठे, तो वे फिर मुसकराएँगे और तब इस तरह कहेगे जैसे कोई वडी गम्भीर बात कह रहे है—"अरे भाई पिये क्या, वही तीन तोले अफीम और तीन छटाँक तेल, वस मामला साफ!"

इसके वाद बच्चोकी तरह मुँह बनाकर खिसियाएँगे और फरमाएँगे—"वाह साहव, इस दुनियामे इतनी पीनेकी चीजे हैं कि सिर्फ उर्दूमे ही उनके नाम लिख दूँ, तो मेरा अखबार भर जाए—क्या समझे जनाव, पूरे चार पेज और आप पूछ रहे हैं कि क्या पिये चचा ? अरे साहव, तन्दुरुस्तीके लिए पीनेको गगा-जमनाके इलाकेमे दूध और मारवाडमे प्यास वुझानेको पानी मिले या न मिले, मायूसी दूर करनेकी दवाका इन्तजाम हुकूमतने हर जगह कर रक्खा है और वह अगर कही चूक भी गई है, तो हमारे पण्डे-पुजारियोने अपने-अपने मन्दिरोमे कुँडी-सोटेका प्रवन्ध करके उस कमीको पूरा कर दिया है। इसपर भी आपकी आँखे नही खुलती, तो भला हो इन कम्पनीवालोका। वेचारोने छोटी-छोटी गलियोकी दुकानोतकपर चायकी पुडिये भेज दी है।

एक प्याला गलेसे उतारो कि खुमार आये और बस मायूसी वन टू थ्री। अब बैठो किसी हँसमुखके साथ और दो-चार मिनट जोडो गप्पे, बस दिल और दिमाग ताजा। अब आप चाहे कुछ लिखिए-पढिए, बाजारसे घरका सामान लाइए या जिस मसलेमे उलझे है, उसे सुलझानेको निकल पडिए। बाहर-भीतरकी इस ताजगीमे आप उल्टे-सीधे चार हाथ मारेगे, मामला सुलझ जाएगा और होना-हवाना क्या है ?"

यह है चचा बिमटोका वह नुस्खा, जो मायूसी और परेशानीपर कभी बेकार नही जाता। मै बरसो यह समझता रहा कि चचा हँस-हँसाकर आदमीका दिल बहला देते है, पर उस दिन मैने जाना कि चचाका नुस्खा, तो अपनेमे जिन्दगीकी एक फिलासफी लिये हुए है।

"ओ हो, तो आपको अपने चचाके इस नुस्खेमे जिन्दगीकी एक फिलासफी भी दिखाई दे गई ? सच यह है भाई साहब, कि हर लेखक कुछ न कुछ पागल होता है और इस समय तो आप सचमुच आगरेकी एक खास बिल्डिगके चारो तरफ ही घूम रहे है।"

जी हाँ, आगरेकी बिल्डिगके बाहर ही नही, मुमकिन है मै उसके भीतर ही घूम रहा होऊँ, पर मेरा विश्वास है कि पूरी बात सुनकर आप भी यह मान लेगे कि हमारे चचा एक जिन्दादिल इन्सान ही नही, पूरे दार्शनिक—फिलासफर है और दार्शनिक भी जीवनके, यानी कोरे सिद्धान्ती नही, एक अमली आदमी।

"अच्छा, तो सुनाइए फिर अपने चचाकी जीवन-फिलासफी हमे भी जरा। मुमकिन है उसमेसे कुछ हमारे हाथ-पल्ले भी पड जाय, वैसे तो आप जानते ही है कि हम अपने मुल्कके एक मशहूर कूडमग्ज आदमी है।"

तो लीजिए, सुनिए, चचाकी जीवन-फिलासफी। बात यह हुई कि हमारे

दफ्तरके बडे साहब हमसे नाराज हो गये और उन्होंने हमसे ऐसा कसकर जवाब तलब किया कि सबने मान लिया कि अब हमारा पत्ता कटा। अच्छी तनख्वाह, शानदार काम, छूटा-सो-छूटा, फिर कहाँ मिलता है ? हम परेशान हो गये और दिमागकी हालत वही हो गई कि यो तो सारे दिन सोच ही सोच, पर कोई पूछे कि भई, क्या सोच रहे हो, तो हम इस तरह चौंके कि जैसे दूसरेकी थैलीमे हाथ दिये पकडे गये !

किस्मतकी बात कि कहीसे घूमते-घामते आ निकले चचा और हमे देखा जो गुमसुम, तो दूरसे ही तनतनाकर बोले—"कहो साहबजादे, किस गलीमे पिट आये आज ?"

पहले तो हमे बुरा लगा कि वाह साहब, हमारी तो बन रही है जानको और इन्हे सूझी है फुलझडी छोडनेकी, फिर फौरन ही हम सम्भल गये कि ये तो चचा हैं और चचाको न उतरा हुआ चेहरा पसन्द है, न चढा हुआ। वे अक्सर कहा करते है कि भाई, चेहरा कोई सिगनल नही है कि उसे इस तरह ताने रखो कि देखते ही हँसी-खुशीकी रेल फौरन थम जाये और न वो कोई गुब्बारा ही है कि हमेशा इस तरह फूला रहे कि मालूम हो पीली हसीन बरोंसे आपकी मुहब्बत अभी शुरू हुई है। अरे मियाँ, चेहरा है चाँद, चेहरा है गुलाब कि जब देखो खिला रहे, महकता रहे, चमकता रहे।

तो हम पी गये अपना ताव और धीमेसे हमने अपना मामला चचाको सुनाकर उनसे पूछा कि अब होगा क्या ? हँसकर चचा बोले—"होगा क्या, होगा क्या, होगा क्या ! अरे, होना-हवाना क्या है इसमे, तुम्हारा अफसर तुम्हारे जवाबसे, तुम्हारी खुशामदसे, तुम्हारी सिफारिशसे मान गया, तो मामला ज्योका त्यो, नही तो ३१ तारीखको महीने भरकी तनख्वाह और गेट आउटका परवाना दोनो एक साथ मिल जाएँगे। फिर चाहे आप आलू-छोले बेचे और चाहे मूँगफली, पूरी आजादी है।"

दुखी तो हम पडे ही थे, चचाकी वातसे हमे गुस्सा भी आगया और तुनककर हमने कहा—"होना-हवाना क्या है, होना-हवाना क्या है, बस इस वकवादके सिवा आपको कुछ और भी आता है चचा?"

वात हमारी गरम थी, मगर चचाने और भी नरम होकर कहा—"इस वकवादकी गहराईको समझनेके लिए अरस्तू और पतजलीके खोपडेकी जरूरत है, तुम इसे क्या समझोगे मेरे लाडले मीण्डक, मगर आज तुम्हे भी मैं इसे न समझा दूँ, तो तुम भी मुझे क्या चचा कहोगे।

लो सुनो, यह होना-हवाना क्या है, राधेश्याम कथावाचकके परिवर्त्तन नाटककी गोल्डन पिल्स है, जो सव वीमारियोका इकला इलाज है और यहाँतक कि कोई तुम जैसा लायक भतीजा अपने हम जैसे चचाको बिना पासपोर्टके ही सातवे आसमानपर भेजना चाहे, तो उसके लिए भी यह रामबाण है।

रामके वाणने रावणको मारकर भारतके इतिहासमे एक नया मोड पैदा किया था और हमारी इस गोलीने भी भारतको एक नया मोड दिया, यह शायद आपको पता नही। औरगजेव अगर 'होना-हवाना क्या है' की गोली न खाता, तो दिल्लीके इतिहासमे औरगजेबकी सिर्फ इतनी ही चर्चा होती कि समूगढके मैदानसे उसका सिर काटकर शाहजहाँके सामने दरबारमे पेश किया गया और उन्होने हुक्म दिया कि इसे ठोकरोमे लुढकनेके लिए चाँदनी चौकमे फेक दो।"

"यह किस तरह चचा?" हमने पूछा, तो वोले—"हाँ, अब आये है राहपर।" और तब कहने लगे—"औरंगजेब दक्खिनकी लडाइयाँ जीतकर दिल्लीकी गद्दी अपने वापसे छीनने चला, तो समूगढके मैदानमे उसकी टक्कर शाही फौजोसे हुई। उधर औरगजेव अपनी तीस हजार फौजो के साथ और इधर वडा भाई दारा ६० हजार शाही फौजोके साथ। कहाँ

तीस, कहाँ साठ ! औरंगज़ेब अपने हाथीपर चढा अपनी फौजके बीचो-बीच खडा था कि राजपूत उसपर टूट पडे और उसके हाथीके चारो त जो पठान सिपाही थे उनमे भगदड पड गई।

दाराने दूरसे यह देखा और यह सोचकर कि बस लडाईके फैसलेका वक्त आ गया है, अपना हाथी मोर्चेकी तरफ हूल दिया, पर दारा आरामोमे पला राजकुमार और औरंगजेब लडाइयोके मोर्चोपर पनपा सिपाही। दारा धूप और प्याससे बेहाल होकर कुछ मिनटोके लिए एक हल्केसे सायेमे ठहरकर आराम करने लगा, पर ठीक इसी मौकेपर खतरेको सामने आया देख औरंगजेबके हाथीवानने पूछा—"अब क्या होगा हुजूर ?"

औरंगज़ेबने कडककर कहा—"होना-हवाना क्या है जी ! फौरन हाथीके पैरोमे साँकल डाल दो, जिससे यह अगुल भर भी इधर-उधर न सरक सके !"

हाथीवानने हुक्मकी तामील की और बस इतनी देरमे तख्ता उलट गया। भागे हुए पठान सिपाही लौट आये और राजपूत सिपाही घिर गये। फतह औरंगजेबके हाथो रही और दारा दिल्लीकी तरफ भागता नज़र आया।

कहिये, इसी गोलीने भारतके इतिहासको यह नया मोड दिया या नही ? और आप जब देखते है, हमारी इस गोलीका मज़ाक उडाते है और इसे बकवाद बताते है। इस गोलीका पहला असर यह है कि आदमीके दिलमे भरोसा होता है, बेफिकरी आती है और कोशिशोके लिए उसके हाथ-पैर खुल जाते है।"

लेकिन चचा, एक निराश-नाउम्मीद आदमी भी तो यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है ? हमने बीचमे टोककर पूछा, तो बोले—

"ठीक है, निराश आदमी भी यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है और कोशिशे बन्द कर बैठ जाता है, पर इसमे मेरी गोलीका क्या कुसूर कि लोग उसे गलत इस्तेमाल करे। फिर भी गोली कुछ न कुछ अपना काम करती है और ऐसे लोगोको भी तसल्लीसे बैठा देती है, उनकी बेचैनी कम कर देती है, वरना वे जाने कबतक तडपते और स्यापे लेते!"

जरा रुककर बोले—"लीजिए, इस बारेमे एक ख़ास बात बताऊँ कि मेरी यह बात बेफिकरीकी एक दवा ही नही है, धर्मका सार भी है।"

वाह चचा, वाह, यह एक ही रही, पर यह तो बताइये कि आप जैसे नास्तिकको यह धर्म-कर्म कबसे सूझने लगा? हमारा यह प्रश्न सुना, तो चचा बोले—"हम हज़ार नास्तिक हो, हमे धर्मवालोकी बस एक यही बात पसन्द है कि उनका पक्का ईमान-विश्वास इस बातमे है कि होना-हवाना क्या है?

एहसान नाख़ुदाका उठाये मेरी बला।
कश्ती ख़ुदा पै छोड दूँ लंगरको तोड दूँ।

अरे डूबेगी, डूब जाएगी, पार होगी, हो जाएगी। पार करेगा तो ईश्वर, डुबाएगा तो ईश्वर और वह जो कुछ करता है भला ही करता है—उसकी इच्छा पूरन हो!

सो भैया, चाहे आप पण्डत गरडधजकी तरह ईश्वरभक्त हो, चाहे चचाकी तरह सफाचट्ट, पर "होगा क्या, होगा क्या" के चक्करसे निकलिये और धुडधुडी लेकर खडे हो जाइये, साथ ही पूरी ताकतसे एक बार सोचिये कि भई, खामखाँ हम परेशान क्यो हो, आखिर होना-हवाना क्या है?

और लो सुनो, आपने उस दिन हमे चायके साथ गरम पकौडियाँ खिलाई थी, उसका एहसान हमारे सिर है, सो आपको बिना फीस लिये एक मशवरा

देकर उसे उतार देते है, क्योकि एहसानफरामोशी—कृतघ्नता—बहुत बडा पाप है ।"

चचाकी यह बात, सुनी तो हम खिसक कर उनके पास हो गये कि जाने वे बडे साहबके बारेमे ही कोई कामकी बात न कह दे और कहा—हाँ, तो दीजिए फिर मशवरा, पर चचा, रामवाण हो कि बडा साहब धम्मसे नीचे आ गिरे !

"बडा साहब ? अरे भाई, वो पाँचफुटा है क्या चीज, आपका सारा दफ्तर धडामसे नीचे आ गिरे, अगर आप हमारे मशविरेपर कान दे।" चचाने गम्भीरतासे कहा और तब बोले—"आप गीदडगुरुके चेले हो जाएँ और उसका गुरुमन्त्र गलेमे नही, दिलमे उतार ले। बस, मामला आपो आप मुट्ठीमे आ जाएगा !"

गीदडगुरुका चेला, कौन गीदड गुरु ? सवाल सुना, तो चचा बोले—"अरे आप गीदड गुरुको भी नही जानते, तभी तो बडे साहबसे डरे यहाँ पडे है तकियेमे सिर दिये, वरना एक साहब क्या, आप दोकी यो फिरकी बना दे। अच्छा, तो फिर सुनिये गीदडगुरुकी कहानी—

गीदडने जगलमे देखा कि एक हाथी मरा पडा है। उसने दाँत मारे, पजे चलाये, पर हाथीकी खाल थी, उसका दाव न बैठा। स्वादिष्ट भोजनका भण्डारा सामने, मगर यह कुण्डी कैसे खुले ?

उधरसे आ निकला एक शेर। गीदडने उससे कहा—"मामा, मैंने तुम्हारे लिए यह हाथी मारा है, लो आओ भोग लगाओ।"

शेरने कहा—"बेटे, मै दूसरेका शिकार नही खाता, मेरा प्रसाद समझ कर तुम्ही आनन्द करो।"

गीदडका वार खाली गया, पर तभी उधरसे आ निकला एक चीता। गीदडने कहा—"यह हाथी बडे मामाने मारा है छोटे मामा, और पहरेपर

मुझे बैठा, नहाने गये है वे, पर तुम बहुत भूखे मालूम होते हो, इसलिए एक तरफसे थोडा-सा तुम खा लो। मै दूर बैठा देख रहा हूँ, मामा आते दिखाई देगे, तो तुम्हे कह दूँगा, तुम भाग जाना।"

चीता लोभमे आगया, पर अपने मजबूत पजोसे हाथीकी खालको चीर, वह मुँह मारनेको ही था कि गीदडने दौडकर कहा—"भागो, मामा आ रहे है।"

चीता भाग गया और यो गीदडने कई दिन खूब भोग लगाया। ये है गीदडगुरु और यह है उनका गुरुमन्त्र ! कुछ समझे ? अरे भाई, समझना इसमे क्या है, बस जिसके हाथमे आपके मसलेकी बागडोर है, उसे चारो तरफ अ को आ से और आ को इ से इस तरह तोप दो कि वह आपसे बाहर न जा सके।

बस फिर आप भी मेरी फिलासफीके कायल हो जायँगे और कोई आपसे अगर पूछेगा कि भाई, आपके बारेमे अब क्या होगा, तो आप चट।कसे कहेगे—अजी, इसमे होना-हवाना क्या है ?

अब भी समझमे कुछ कसर रह गई हो, तो यो समझ लीजिये कि मेरी फिलासफीका सार यह है कि कोई मसला इतना बडा नही होता कि हल न हो सके, और सच तो यह है कि हर मसलेके साथ ही उसका हल भी रहता है, पर मुसीबत तो यह है कि हम मशलेके भयसे इतने डर जाते है कि उसे न खुलनेवाली गाँठ समझ लेते है। होना-हवाना क्या है कि, फिलासफी की घोषणा है कि कोशिश करनेसे पहले ही उसकी कामयाबी तै है, तो मत लीजिये नाकामयाबीका मनहूस नाम और समझ लीजिए कि हर मसला हल होनेके लिए है।

अधूरा कभी नहीं, पूरा और पूरी तरह !

जहाँतक याद है यह ईंगुलकी बात है। उस वर्ष वहाँ गान्धी-सेवा-सघका वार्षिक सम्मेलन था और गान्धीजी भी उसमे पधारे थे। वहाँ उन्होने जो भाषण दिया, उसका आरम्भ उन्होंने कुछ इस तरह किया—

अभी मै अपने ठहरनेके स्थानसे जब यहाँ चला आ रहा था, तो मैंने देखा कि एक अध्यापक महोदय कुछ बालकोको तकली चलाना सिखा रहे थे, पर उनका तकली चलानेका तरीका स्वय ही शुद्ध नही था। भूल यह थी कि वे पहले पूरा धागा खीच लेते थे और तब उसे ऐठ देते थे। यह बडी भारी भूल है।

एक साधकने पूछा—पूरा धागा खीचकर फिर उसे ऐठनेमे क्या भूल है बापू ?

जवाब मिला—पूरा धागा खीचनेपर किसी कामसे बिना उसे ऐठ दिये कातनेवालेको उठना पड जाय, तो उस कच्चे सूतके खराब होनेका तो भय है ही, पर सबसे बडी बात तो यह है कि आपका एक काम अधूरा रह गया।

और बस अपने स्वभावके अनुसार यहीं गान्धीजी तकलीके सूत्रसे जीवनके सूत्रमें उतर आये और बोले—पता नही मनुष्यके पास मृत्यु कब आ पहुँचे, इस लिए उसे इस तरह जीना चाहिए कि जब भी वह ससारसे जाए, उसका हरेक काम अपनी जगह पूरा हो और किसी दूसरेको उसका काम पूरा करनेमें नही, उसके कामको आगे बढानेमे ही हाथ लगाना पडे।

ईंगुलकी यह बातचीत जब-जब मेरे ध्यानमे आई है, मैने सोचा है—

गान्धीजी जीवनकी हर बातको कितनी गहराईसे सोचते थे और जीवनके हर क्षणको कितनी गम्भीरतासे लेते थे !

और जब भी कभी मैं यह सोचता हूँ कि वे जिस दिन स्वय इस ससारसे गये, अपना वह दिन उन्होने ३ बजकर २७ मिनटपर आरम्भ किया था और जवाबके लिए बीचमे पडी चिट्ठियोका जवाब उन्होने लिखाया था, तो एक तड़फन मेरे प्राणोमे कौन्ध-कौन्ध उठती है कि क्या वे जानते थे कि मैं आज जा रहा हूँ और इसी लिए उन्होने अपने कई अधूरे काम उस दिन पूरे कर दिये थे ! !

तो जीवनका यह सूत्र बना कि जो काम करो, पूरा करो—एकको बीचमे अधूरा छोड, दूसरेका आरम्भ और दूसरेको अधूरा छोड, तीसरेका आरम्भ, यह काम करनेका कोई अच्छा तरीका नही है।

लोकजीवनमे इस सत्यको एक कहावतमे यो कहा गया है—'आगे दौड, पीछे चौड।'

इतिहासमे भी ऐसे वीरोकी कथाएँ सुरक्षित है, जो जीतते गये और बढते गये, पर जब आखिरी किनारेपर पहुँचे, तो उन्होने देखा कि उनके गलेमे विजयका हार नही, गुलामीका तौक पडा है और उनके हाथोमे विजित देशोके विजय-पत्र नही, हथकडियाँ डाली जा रही है। क्यो ? क्योकि वे जीते देशोकी व्यवस्थाका अधूरा काम छोडकर आगे बढ गये !

मैं जीवनकी सरल बात कहने बैठा था, पर लगता है कि कुछ बोझल हो चला हूँ, तो आइए अपने मित्र श्री खन्ना और उनकी पत्नी श्रीमती खन्नासे आपका परिचय कराऊँ। श्री खन्ना एक ईमानदार, परिश्रमी और भले राज्य कर्मचारी, तो श्रीमती खन्ना एक सुरुचि-सम्पन्न, सहृदय गृहिणी। एक मध्यम श्रेणीका छोटा-सा परिवार, पर इतना व्यवस्थित कि देखे, तो देखते ही रह जाएँ—हँसीमे मित्र लोग कहते है—"श्रीमती खन्ना झाडूसे

नही बुहारती, जीभसे फर्श चाटती है।" वे अपना घर ऐसा रखती है कि जैसे यह म्यूजियम हो और इसकी चीजे बरती न जाती हो, बस देखनेके लिए सजी ही रहती हो।

एक दिन पूछा—"इस व्यवस्थाका रहस्य क्या है ?"

श्रीमती खन्ना बोली—"जो चीज जहाँकी है, उसे वही रखनेकी आदत।" और तब उन्होने एक ताजा सस्मरण सुनाया—"रात खन्ना साहब एक बजे आये। उनके साथ सामान भी था। आते ही उन्होने कपडे निकाले, बदले और बिस्तरबन्द खोलकर जूता जूतेके स्टैण्डपर रक्खा, चप्पल पलगके पास, बिस्तरा भीतरकी चौकीपर पहुंचाया, मैले कपडे डोलीमे डाले, होल्डाल तह करके उसकी जगह रक्खा, फलोकी टोकरी रसोईमे रख आये, थर्मस खूँटीपर टॉग दिया, ट्रक भीतरके कमरेमे रक्खा, छतरी कोनेमे और यो ढाई बजे सोये।"

हम जब सुबह सोकर उठे, तो घर ज्योका त्यो था। दूसरे लोग ऐसे मौकेपर यह फेका इधर, तो वह मारा उधर और कुछ पलगके नीचे, तो कुछ चारो ओर, गरज यह कि घरको ऐसा कर देते है, जैसे यहाँमे अभी-अभी राजस्थानी लुहारोका काफिला उठा हो!"

वे बोली—"बस यही हमारी व्यवस्थाका रहस्य है।"

मैने कहा—"ठीक है, आप लोग खादी न पहननेपर भी इस मामलेमे गान्धीजीके पक्के शिष्य है, कभी अधूरा काम नही करते।" और तब मैने उन्हे गान्धीजीका वह ईगुलवाला सस्मरण सुनाया।

खन्ना परिवारके विरुद्ध है मेरा एक आत्मीय और उसकी बहू रानी। दोनो सुन्दर है, पर घरका सौन्दर्य दोनोको पसन्द नही—उनका घर देखकर ऐसा लगता है कि वे आज ही इस घरमे आये है और उनका सामान किसी दूसरे घरसे लाकर अभी यहाँ रक्खा गया है—यहाँ यह पडा है, तो वहाँ

वह। कभी-कभी मैं उसे व्यवस्थित करा देता हूँ, पर यह रेतेका राजमहल उसी दिनसे छीजने लगता है और दो-तीन दिनमे ही फिर अपना स्वरूप ले लेता है।

क्या उसके पास जगहकी कमी है ? ना, यह स्वभावकी बनावट है, जिसे मैं मानसिक दरिद्रता कहा करता हूँ।

विकास प्रेसके बरामदेका पार्टीशन करके बनाई गई मेरी अपनी कोठरी है—नौ बालिश्त चौडी, नौ बालिश्त लम्बी। इसमे मेरा पुस्तकालय है, कार्यालय है, पूजा-मन्दिर है, शयन-कक्ष है, बैठक है, स्टोर है और भी बहुत कुछ है। समाजके अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक, जो धनपति है, ऊँचे राज्य कर्मचारी हैं, मिनिस्टर-डिप्टी-मिनिस्टर हैं और बडे-बडे भवनोमे रहते है, अक्सर इस कोठरीमे आतिथ्य ग्रहण करते रहे है। मैंने बार-बार देखा है कि वे आकर पहले भौंचक हो इस कोठरीमे चारो ओर आँखे घुमाते हैं और तब कहते है कि वाह साहब, यह आपकी कोठरी तो खूब है। मैं स्वय अपनी कोठरीपर गर्व करता हूँ कि उसमे एक पूरा जीवन है, वातावरण है, व्यवस्था है, सौन्दर्य है।

मै जानता हूँ कि आपका घर भी अव्यवस्थित रहता है और आप चाहते है कि वह खन्ना परिवार या मेरी कोठरीकी तरह व्यवस्थित रहे, तो अधूरा काम करनेकी बुरी आदत छोडिए और पूरा काम करनेकी अच्छी आदत डालिए।

अधूरे या पूरे कामका घरकी व्यवस्थासे भला क्या सम्बन्ध ? आपके मनमे यह प्रश्न पूरे जोरसे उमड रहा है, पर इसका बडा गहरा सम्बन्ध है, क्योकि अधूरे काम ही घरकी व्यवस्थाको खराब करते है।

यह कैसे ? इस तरह कि आपका घर इस समय पूरी तरह व्यवस्थित है, हर चीज अपनी जगहपर रक्खी खिल रही है और आपने यह निश्चय भी

कर लिया है कि इसे ऐसा ही रक्खेंगे, अब आप कपडोके दराजमेंसे एक वनयान निकालते है। वह कही कपडोमे रक्खा गया है, मिलता नही। आप २-४ कपडे निकालकर कुरसीपर रख देते है और वनयान लेकर बाहरके कमरेमे आ जाते है। बस सारी व्यवस्था समाप्त समझिए, क्योकि आपने अधूरा काम किया और कपडोको ज्योका त्यो नही रक्खा।

आपके वाद आपका पुत्र आ गया और वह अपने स्थानपर रक्खी उस कुर्सीको खीच, ऊपरके ताकमे रक्खा अपना खेल उतारकर कुरसीको वही छोड जायगा। तव दर्शन देगी उसकी माताजी और वे कपडोकी मरम्मत करके, कैंचीसे कटी कतरने और सुई-तागेका डब्बा वीचमे छोड जाएँगी और बस आजका सूरज डूवनेसे पहले ही आपका घर कवाडीकी दुकान वन जाएगा।

है अधूरा काम घरकी व्यवस्थाका दुश्मन ?

दूरके नगरमे मेरे एक मित्र रहते है। तीन-चार साल बाद मै गया, तो देखा कि एक छोटा-सा दुमजिला मकान उन्होने बना लिया है। नया मकान, नया फरनीचर, नई किताबे, पर दरवाजेकी तरफ वाली दीवार पर पानीके डोरे खिचे हुए, जिससे कमरेमे एक भद्दापन छाया हुआ।

पूछा—यह पानी कहाँसे आया है, तो बोले—"ये पैडके दो छेद वन्द होनेसे रह गये, वरसातमे पिछवाड आजाती है।"

वही अधूरा काम कि मकान बने दो साल हो गये, पर पैड बाँधनेके लिए वने छेद रह गये, जिन्हे वन्द करनेका काम सिर्फ दस मिनटका था। अब चार ईट, आधसेर सीमेण्ट, दस मिनटके लिए मिस्त्री और सीढी, यह सब हो, तो वे छेद बन्द हो, इसलिए दस मिनटकी वह अपूर्णता जाने कबतक पूर्ण हो !

इससे भी एक छोटी वात लीजिए। आपने अपने कमरेमे झाड़ू लगाई,

सामान जहाँका तहाँ किया, पर आप देख रहे है कि ऊपर कोनेमे एक जाला लगा है। आप अपनी बेत जरा हिला दे, तो जाला खत्म हो, पर नही आपने उसे छोड दिया और बस आपका काम अधूरा रह गया।

कामको अपूर्ण करनेकी आदत जीवनको अपूर्ण कर देती है और कभी-कभी इसके भयकर परिणाम निकलते है।

मेरे एक मित्र है पी० सी० एस०। यूनिवर्सिटीमे फर्स्ट आये थे और डिप्टी कलैक्टर होनेके कुछ दिन बाद ही सिटी मैजिस्ट्रैट हो गये। एक शहरसे दूसरे शहरमे तबादला हुआ। किरायेपर लिया हुआ फरनीचर और कालीन अपने किसी अर्दलीके हाथो लौटा दिया और चले गये, पर दो साल बाद फरनीचरवालेने उस सामान और किरायेकी नालिश कर दी। अब मैजिस्ट्रैट साहबकी पोजीशन खतरेमे। १५ दिन मै दौडा-दौडा फिरा और तब कही ४०० रुपयेमे फैसला हुआ।

बात यह हुई कि या तो अर्दली साहबने सामान साफ किया या फिर फरनीचरवालेके मुन्शीने बेच खाया। सामान लौटाकर रसीद न लेनेके अधूरे कामने यह परेशानी और जुर्माना दिया।

एक साहबने अपने कीमती सामानकी अटैची कुलीके सिरपर रक्खी और टिकट खरीदने लगे। मेम साहबने कहा—सामान कीमती है, मै साथ जा रही हूँ, तो अकडकर बोले—डोण्ट वरीं, कमौन डीयर (चिता मत करो, तुम मेरे साथ रहो प्यारी!) कुलीने यह बात सुन ली और जाने कहाँ रल गया। न मेम साहब साथ गई, न साहबने नम्बर नोट किया। वही कामकी अपूर्णता!

यह अपूर्णता क्यो होती है? इस प्रश्नके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणमे मै न उतरूँगा; क्योकि किसी छोटे दर्जेकी अगरेजी पुस्तकमे युग बीते पढी एक कविताकी दो पक्तियोमे ही इसका समाधान है—

अधूरा कभी नही, पूरा और पूरी तरह !

"वर्क ह्वाइल यू वर्क, प्ले ह्वाइल यू प्ले !
दैट इज़ दी वे, टु बि हैप्पी आई से !"

जब तुम काम करो, तो बस काम ही करो और जब खेलो, तो बस खेलो ही खेलो; मैं कहता हूँ प्रसन्न रहनेका एक यही तरीका है।

बात गहरी है कि काम करो, तो उसमे पूरा ध्यान, पूरी दिलचस्पी, पूरी योग्यता लगादो, क्योकि दिलचस्पी, लगन और चाह ही आदमीमे पूर्णताके लिए चाव पैदा करती है और इसीसे वह अधूरेपनसे बच, पूर्ण काम करनेका आदी हो जाता है।

अधूरा काम जीवनको अधूरा कर देता है, उससे बचो और हमेशा पूरा काम तो करो ही, कामको पूरी तरह भी करो—

"वर्क ह्वाइल यू वर्क, प्ले ह्वाइल यू प्ले !"

दुनिया दुखोंका घर है !

वात आजकी है एकदम ताज़ी, पर वात पुरानी है, बहुत पुरानी और शायद उस बरगदके पेडसे भी पुरानी, जो दक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमे खडा है। जाने कबसे खडा है, यो ही यह बरगदका पेड–वटका वृक्ष। मेरे बाबा कहते है कि वे बालक थे, तो यह पेड यही इसी तरह खडा था और वे उसके नीचे दूसरे बालकोके साथ आँखमिचौनी और दाई-दुक्का खेला करते थे।

लगभग ८० वर्षके है मेरे बाबा, तो यहाँ खडे-ही-खडे इस वडके पेडने एक पूरी सदीका इतिहास अपनी आँखो देखा है। कितना विशाल, कितना बूढा, कितना पुराना है यह बडका पेड, पर जो बात मै आपको सुनाना चाहता हूँ, वह इतनी पुरानी है कि उसका अता-पता इस बूढे वडसे पूछो, तो यह वगले झाँकने लगे और अन्तमे खिसियाना-सा कहे कि भाई, जब मैं छोटा-सा बालक था, तब भी बडे बूढे यह वात आपसमे यो ही कहा करते थे, जैसे आज तुम लोग कहते हो।

तो मतलब यह कि बूढे बडसे भी बूढी है यह बात, जो मै आपको सुना रहा हूँ। बुढापेमे आदमी ही नही हाथी घसक जाता है और उसमे खुली ताजगी नही रहती, पर जो बात मै आपको सुना रहा हूँ, वह इतनी बूढी है, फिर भी गजबकी तेजी और ताज़गी है उसमे और ताजगी भी क्या कोई ऐसी-वैसी, वह तितली-सी सारे देशमे उडी फिरा करती है। जब मैं कहता हूँ कि उडी फिरती है, तो आप यह न समझे कि वह कोई अप्सरा है, जो इधर-से उधर उडी फिरे, जी नही वह लोकके कठका हार है।

"ओ हो, जाने क्या कहे जा रहे है आप। मान लिया कि जो बात हमे आप सुनानेवाले है, वह बहुत पुरानी है, सारे देशमे उसका प्रचार है,

पर भले आदमी, भूमिका बाँधे जा रहे हो, आखिर वह बात भी तो सुनाओ कि क्या है ?"

ऊँ हूँ, तुम बोले भी तो यह बोले। बातके बीचमे टमकना ही था, तो कोई कामकी बात कहते। वाह जी, वाह, कहा भी तो क्या कहा कि हम भूमिका बाँध रहे है, जैसे भूमिका बाँधना कोई मामूली बात हो। भाई साहब, भूमिका बाँधनेका मतलब है, हवा बाँधना और जिसने हवा बाँध दी, उसके लिए सफलता ऐसी कि जैसे आप सडकपर पडी-पाई इकन्नी चुपकेसे उठाकर अटीमे लगा ले। भूमिका बाँधना, यानी हवा बाँधना ऐसा महत्त्वपूर्ण न होता, तो क्या ससारके महान् शासको और कर्णधारोकी खोपडी कोई खोखली हो गई है कि वे हवा बाँधने वालोकी जेबमे बैठे फिरा करते है।

"ससारके शासक और कर्णधार हवा बाँधनेवालोंकी जेबमे बैठे फिरा करते है, यह क्या कह रहे है आप ?"

अजी भाई साहब, मै जो कुछ कह रहा हूँ वो तो एक और एक दोकी तरह बिलकुल साफ है, पर तुम्हारी अक्लका द्वार जरा ऐसा तग है कि उसमे कोई बात ऐसी ही मुश्किलसे बैठती है, जैसे मोटी स्त्रीके हाथमे बुल्लन मियाँकी छोटी चूडी। खैर, कुछ भी हो, मुझे तो यह चूडी बैठानी ही है, तो मै आपसे पूछता हूँ कि हिटलर जो सारी उम्र प्रचार मत्री गोयबेल्सको अपना सगा भतीजा बनाये रहा, उसका यही रहस्य था महाराज! अच्छा तो अब तुम मेरी वह बात सुनो, जो दक्षके मन्दिरमे खडे उस वरगदके पेडसे भी पुरानी है और फिर भी देशके घर-घरमे फैली हुई हे।

आज तो नन्हे और भुल्लनका बेटा भौंदू और बुडकल्ला भी जब अपने लिए दुलहन देखने जाता है, तो पूछता है—नाचना जानती हो ? और इस प्रश्नके उत्तरमे यदि वह सकुचाई-सिकुडी किशोरी कहे कि 'हाँ' तो वह कुछ इस तरह मुसकराहटके साथ सिर हिलाता है कि जैसे वह भरतके नाट्य-

शास्त्रपर ही थिसिस लिखकर डी० फिल० हुआ हो। साथ ही यदि कानोमे पडे 'ना' तो वह सम्पूर्ण गम्भीरताके साथ कुछ इस तरह भौंहोको सिकोड-कर माथेपर बरसाती नदीके कगार-से खडे कर लेता है कि जैसे उसने दुल-हनके सम्बन्धमे हो रही जॉच-पडतालके सामने ऊँची दीवारे ही खडी कर दी हो।

साथ ही पलौथीसे इस तरह उकडूँ हो जाता है कि बिना ना किये ही लडकीवालोके लिए उसकी बिदाईका ऐलान हो जाता है। यह आज की दशाका एक चित्र है, पर मै तो उन दिनोकी बात कह रहा हूँ, जब नृत्य और गानमे निपुणता कन्यामे बिना जाँचे उसी तरह अनिवार्य समझी जाती थी, जिस तरह आजकल भोजन बनाना। यही कारण है कि उन दिनो वरके लिए वधूकी खोज करते समय नाचने-गानेकी जॉच-पडताल न करके परिवारके लोग वरके गुण-दोष देखा करते थे।

वहू जिस दिन पतिके घर आती, उस दिन रात भर मुहल्ले पड़ौसकी कोई कन्या और वहू न सोती और रातभर नृत्य और गानकी धूम मची रहती। यह एक तरहसे वहूकी परीक्षाका उत्सव होता, क्योकि इसमे नगर और परिवारकी पुरानी वहुएँ और कन्याएँ जहाँ अपनी कलाका प्रद-र्शन करती, वहाँ वहूको भी अपनी कलाका पूरा प्रदर्शन देना पडता। इस तरह दोनो एक दूसरेकी आँखोमे तुल जाते। उस उत्सव-रात्रिको लोककी भाषामे कहा जाता—रतजगा।

उस दिन भी भारतके एक सुखी नगरमे ऐसा ही रतजगा था। वहू डोलेसे उतरी, तो चाँद निकल आया। बडी-बूढियोने कहा—"वहू रूपका लच्छा है।" सासने गर्वसे डूबकर कहा—"गुणोका भण्डार भी है।" ईर्ष्यासे कुढकर जिठानीने कहा—"यह तो रातमे देखा जायगा।" ननदने सभालते हुए कहा—"देख लेना फिर रातमे ही।"

रतजगा प्रारम्भ हुआ। १०-११ बजे राततक लडकियाँ नाची और तब बहुएँ मैदानमे आईं। समारोह जब पूरी गर्मीपर आ गया, तो सासने कहा—"बहू, अब तू उठ मेरी चाँद !"

गर्वीली बहूने उपेक्षासे कहा—"इन छोकरियोमे मै क्या नाचूँ माँ, किसीका नाच बढिया लगे, तो मेरे दिलमे भी उमग आये।"

बहूओने इसमे अपने लिए व्यग पाया और उनके तालमे ठसक, भ्रू-भगियोमे कसककी लहरे और अग-विन्यासमे थिरक और लचक गतिशील हो उठी। इस गतिमे नई बहूके चैलेजकी स्वीकृति भी थी और अपनी ओरसे चैलेज भी था।

कोई तीन बजे नई दुलहन नाचनेको उठी। सबके दिल धडक उठे और साँसोकी चाल धीमी पड गई। बहूने अब अपना आँचल सँवारा, अब लहगेके शल सीधे किये, अब ढोलककी कसाई देखी और अब बैठी बहुओको आगे पीछेकर जगह ठीक की और लो वह आगई नाचकी मुद्रामे, पर यह क्या कि वह फिर ठहर गई और आँखे फाड-फाडकर आँगनको देखने लगी। और अब सबने आँखे फाड-फाडकर देखा—मुँहपर विरागका भाव लिये बहू बैठ गई हे और पैरोसे घुँघरू खोल रही है।

आश्चर्यसे सासने पूछा—"ऐ, क्या है बहू ?"

"मै नही नाच सकती यहाँ !" बहूने नाक सिकोडकर कहा, तो और भी आश्चर्यमे सासने पूछा—"क्यो, क्या बात हे मेरी चाँद ?"

"इस मकानका आँगन जरा टेढा है, और नृत्यका भाव-विकास एक दम चौकोर स्थलमे ही हो सकता है।" एक दार्शनिककी तरह गम्भीर होकर बहूने कहा और घुँघरू खोलकर उसने जरा दूर सरका दिये।

बडी बूढियोके भयसे बहूएँ कुछ कह न पाईं। फिर भी उनके हृदयका विद्रोह जिस गागरमे सागरकी तरह लहरा उठा, वह आज भी लोकोक्ति-

मे अमर है कि 'नाच न जाने आँगन टेढा।' जब कोई अपनी कमीको दूस-रोके सिर मढकर पल्ला बचाना चाहता है, तो यह सूक्ति व्यगका बाण बनकर चोट करती है।

कहिए, ठीक है न मेरी बात कि दक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमे खडे बरगदके पेडसे पुरानी होकर भी यह बात आज भी वैसी ही ताजी है, जैसी कि उस दिन थी कि जब अपमानित बहुओकी हुकार उस नई बहूपर बरस पडी थी?

एक और बात बडी अजीब है कि पुरानी पडकर हर चीज कमजोर हो जाती है, पर लोकोक्तियोकी यह विशेषता है कि ज्यो-ज्यो वे घिसती है उनका भाव और पैनापन बढता है। 'नाच न जाने आँगन टेढा' इस लोकोक्तिपर ही जब मै विचार करता हूँ, तो मुझे लगता है कि इसमे जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय अब समा गया है।

"ओहो, इसमे जीवनशास्त्रका एक पूरा अध्याय भी समा गया इतनी देरमे। तुम्हे भी लन्तरानियाँ छौकनेकी आदत हो गई है कुछ!"

भाई साहब, मुझे लन्तरानियाँ छौकनेकी आदत पड गई है, तो कोई बुरी बात नही, क्योकि भोजन है, जीवनका प्राण और भोजनका प्राण है छौक। पुराने लोग कह गये है कि छौंक आधा चौका है। फिर बातोका छौक तो एक कला है। बीरबल न इजीनियर था, न कवि, फिर भी अकबर बादशाहकी मूँछका बाल बना रहा, सिर्फ बातोमे छौककी कलाके कारण। आप मेरी इस कलाको यो ही उडाना चाहते है कि दे ढील और वो काटा? कान खोलकर सुन लीजिए, मै पूरी ताकतके साथ एक बार फिर दोहराना चाहता हूँ कि इस कहावतमे जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय छिपा है, पर मुसीबत तो यह है कि लोग नाचना तो जानते नही और आँगनको टेढा बताते है।

दुनिया दुखोंका घर है !

मुझे अपने एक बचपनके साथीकी याद आ रही है। हम दोनो एक संस्कृत पाठशालाके विद्यार्थी थे और उस साल प्रथमा परीक्षा दे रहे थे। सारी पाठशालामे सबसे खराब लिखाई मेरे इस साथीकी थी, पर वह इसे अपनी कमी नही मानता था। वह कहा करता था कि मुझे अभीतक अच्छा-सा पेन नही मिला और तुम लोगोको मिल गया है, इसलिए तुम जरा अच्छा लिख पाते हो। मुझे भी जिसदिन मनपसन्द पेन मिल जायगा, बस मैं भी कागजपर मोती टाँकने लगूँगा। सचमुच यही उसका विश्वास था !

परीक्षाका एक सप्ताह रह गया, पर उसे कोई मन-पसन्द पेन न मिला। नतीजा यह कि वह कागजपर मोती टाँकनेमे कामयाब नही हुआ और मकौडे ही मारता रहा। अब वह परेशान था कि क्या करे। अचानक उसने एक नया आविष्कार किया और यह सूची बनाई कि पाठशालामे कौन-कौन विद्यार्थी बहुत सुन्दर लिखता है। सूची बनते ही उसने नया कदम उठाया और उन सबके निब चुराकर एक छोटी-सी डिबियामे बन्द कर लिये। बुद्धिका बदहाजमा देखिए कि आपने उनसे एक बार भी लिखकर नही देखा और मान लिया कि कापीके कागजोपर अब मैं अजन्ता और इलोराकी तस्वीरे उतार दूँगा।

परीक्षाके दिन बडे आरामके साथ उन्होने इस डिबियाका एक निब अपने पेनमे ऊगाया और कापीके टायटिलपर लिखा—नम: शिवाय। पूरे उत्साहसे आपने कापी उठाकर अपनी चूँधी चिपचिपाई आँखोसे देखा तो दिल धडक उठा—ऐं, ये तो वे ही मकोडे और मक्कड है, इनमे शिवजीके ललाटपर दमदमाते चन्द्रमाकी चाँदनीका तो नाम नही, हाँ उनके भुजग और भभूतके भूत जरूर नाच रहे है।

बेचारोने बडी मुश्किलसे अपनी खोपडीमे सोचनेकी शक्तिको जगाया और दोनो हाथ साधकर बाये अगूठेके नाखूनपर निबको इस तरह चटकाया

-जैसे गाँवकी फूहड सखियाँ अपने मैकेमे नेफेसे नोची जूँको पकडकर चटका देती है, पर कोई फल न मिला। अक्ल काम ही न करती थी कि क्या बात है। जरा ठहरकर आपने अपनी दुपल्ली टोपीसे निबको पोछा और नया डोबा भरा, पर कोई काम न चला। निराशामे आदमी रो पडता है या फुँकारता है। आप फुँकार उठे और आपने डैक्समे मारकर निबका नामोनिशान ही मिटा डाला। इस तरह तीन दिनमे मेरे साथीने लगभग १५ निबोका बलिदान किया और फर्स्ट डिवीजनमे फेल हो गये।

यही भूल आपकी है भाई साहब, नाच आप जानते नही, न जानना मानते भी नही और आँगनको टेढा बतलाते है, पर मै इसके लिए आपको कोई दोष नही दे सकता, क्योकि इस दुनियाके ९९ फी सदी आदमियोका यही हाल है। जिसे देखिए दुखोका मर्सिया पढते नजर आता है, जैसे यह दुनिया दुखोका ही एक अजायबघर हो। फिर कोई दुखी है, तो उससे यह भी पूछना पडता है कि भाई, तू क्यो दुखी है ? इसके जवाबमे इस किनारेसे दुनियाके उस किनारे तक कोई यह नही कहता कि मैने भूल की, ठीक नही चला और इसलिए दुखी हूँ। अपने बारेमे हरेककी राय १०० फी सदी ठीक है। कोई कुटुम्बवालोका नाम लेता है, कोई मित्रसाथियोका और किसीको इनमेंसे कोई हाथ न आये तो सबके दोषोका जिम्मेदार भाग्य तो है ही। अब यह भाग्य कोई चीज है या नही, इस बहसमे मै नही पडता, पर सोचता हूँ कि वह बेचारा गूँगा है और बोल सकता, तो अपने इन लाड-लोमेंसे बहुतोकी सात पीढियाँ बखान मारता !

मेरे पडोसमे दो भाई है। गरीब माँ-बापके बेटे और मामूली पढे हुए। एकने मुहल्लेमे मामूली पानकी दुकान कर ली और आज वायलके कुरतेमे सोनेके बटन लगाये बैठता है। दूसरा लखपति होनेके चक्करपर चढ गया और नकली रुपया बनानेके सिलसिलेमे जेल काटकर आया है। रात-

दिन भाग्यको कोसता है और गुनगुनाया करता है—

"मेरा तजरुबा है कि इस जिन्दगीमे, परेशानियाँ ही परेशानियाँ है।"

उस दिन बातो ही बातोमे बोला—"अजी बाबूजी, भगवान्की यही मर्जी थी कि मै बर्बाद हो जाऊँ, सो हो गया।" मै सोचने लगा कि यह भगवान् कौन है, कैसा है कि लोगोको बर्बाद करनेके गुलटप्पे मारता रहता है।

भगवान्के बारेमे भी एक अजीब मसखरी है। एक सॉसमे लोग कहते है, वह दयालु है, सर्वशक्तिमान् है, न्यायकारी है और उसीने यह दुनिया बनाई है और उसी सॉसमे कहते है कि यह दुनिया दुखोका घर है, परेशानियोका अड्डा है। यही नही कि यह बात अनपढ कहते हो या नासमझ, जी नही, वे कहते है यह बात जो धर्म-कर्मके ठेकेदार माने जाते है और इतनी पुस्तके रटे फिरते है कि मामूली गधेपर लाद दो, तो बेचारेकी कमर तीरकमान बन जाये।

अब पूछे कोई इन भले आदमियोसे कि भाई, जो ईश्वर दयालु और सर्वशक्तिमान् है, वह दुखोका घर क्यो घडेगा ? भला जो इजीनियर हो सकता हो, उसका सिर फिरा है कि वह आलू-छोले बेचता फिरे? दुनिया सुखोका भडार है यह एक ऐसा उपवन है, जिसमे खुशियोके फूल खिले है। हाँ, इसमे कॉटोकी बाढ भी है। अगर कोई उन फूलोकी तरफ तो देखे नही और कॉटोमे उलझता फिरे, तो इसमे भगवान क्या करे ?

बात वही है कि कम्बख्त नाचना जानते नही और आँगनको टेढा बताते है। अब बताओ तुम कि इस कहावतमे जीवन-शास्त्रका एक अध्याय भरा हुआ है या नही ? अरे साहब, तुम सोचनेकी मुद्रामें गुम क्यो हुए जा रहे हो ? मान लो, हॉ साहब, बस मान ही लो कि आज हमने तुम्हे कामकी एक बात बता दी है। जानता हूँ कि तुम कजूस हो और धन्यवाद नहीं दोगे, पर कोई फिक्र नही, हम भी उन दूकानदारोमे है, जो सोदा देकर दाम लेना भूल जाया करते है।

बल-बहादुरी : एक चिन्तन

बलमें पुरुषत्वका निवास है और सहृदयतामे देवत्वका। बलके अभाव में परिलक्षित होता है क्लीबत्वका दयनीय दर्शन और सहृदयताकी शून्यतामे ताण्डव करती है, पाप पुंज-प्रोज्वालित पैशाचिकता !

क्लीबत्व भयका पिता है और उसकी सहचरी है दीनता, पर पैशाचिकताकी सखी है क्रूरता और वह अज्ञानके पुत्र अहंकारका पोषण करती है।

पुरुषत्व अभयका जनक है और देवत्व शान्तिका। अभय और शान्तिका यह सुन्दर सम्मेलन ही मानवताके विकासकी पुण्य-भूमि है।

रावण भी बली था और राम भी, कृष्णमे भी बलका अधिष्ठान था और कंसमें भी, पर एककी आज जयन्ती मनाई जाती है और दूसरेका स्मरण हमारे हृदयोमें घृणाके उद्रेकका कारण होता है।

बात क्या है ?

एकने अपने बलका उपयोग किया जनताके अधिकारोकी रक्षामे और दूसरेने उनके अपहरणमे ; एकके बलका पथ-प्रदर्शक था प्रेम और दूसरेका स्वार्थ, बस दोनोका यही अन्तर है ! इसका अर्थ यह हुआ कि सबलके बलका सदुपयोग ही उसके साफल्यकी एकमात्र कुंजी है।

बल एक है, पर उपयोगके साँचेमे ढलकर हम उसे दो रूपोमे देखते है। आत्माका संस्पर्श उसे वीरताके पवित्र एवं स्पृहणीय नामसे उद्घोषित करता है और देहका क्रूरताके जघन्य एवं घृणित नामसे।

दूसरे शब्दोमे विवेकका साहचर्य उसे स्वर्गकी सीमामे ले जाता है और अविवेकका नरककी।

सामान्यत. बल अन्धा है और उसकी गति पथ-प्रदर्शकके आधीन है।

राष्ट्र एवं जातियोके गौरवकी स्थिति पूर्णत कोकिलके शिशुओ जैसी

है। उसका जन्म होता है, शक्तिकी कल्याणमयी गोदमे, पर वह पलता है प्रेमके पवित्र पालनेमे। बल उसकी नसोमे अभिमान एव कर्मण्यताके रक्तका सचार करता है और प्रेम उसे त्यागका अमृत पिलाकर अमर करनेका प्रयत्न। बल एव प्रेमका यह सात्त्विक सहयोग ही राष्ट्रोके निर्माणकी मूल-शिला और इन दोनोका पारस्परिक विरोध ही विश्वके विशाल राष्ट्रो एव जातियोके खण्डहरोका सच्चा एव हृदयवेधी इतिहास है।

बल आकर्षणका केन्द्र है। बलका उपयुक्त प्रदर्शन अपनो और विगानो, सभीको अपनी ओर आकर्षित करता है—सबलको सभी मुग्ध-दृष्टिसे देखते है, प्रेम और श्रद्धाका स्नेहोपहार उसके चरणोमे समर्पित कर सभी अपनेको धन्य समझते है, पर वीर अपने प्रतिद्वन्दी वीरके एक प्रशसा वाक्यको जन-साधारणके अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक भाषणोसे अधिक महत्त्व देता है। वास्तवमे एक कवि ही दूसरे कविकी सच्ची प्रशसा करनेका अधिकारी है और एक वीर ही दूसरे वीरका सच्चा सम्मान कर सकता है।

इतिहास-रत्न जयमल और वीर-शिरोमणि फत्ताका हम कितना ही गुण-गान करे, पर उनका सच्चा सम्मान तो मुगल-सम्राट् वीर अकबर ही कर सका था।

झाँसीकी वीर महारानी लक्ष्मीबाईके सम्मानमे हम कितने ही काव्योका निर्माण क्यो न करे, उस देवीका वास्तविक सम्मान ब्रिटिश सेनाके वीर सेनापति ह्यूरोजके वे शब्द है, जो आज भी इतिहासके स्वर्ण-पृष्ठोमे अपनी दिव्य-प्रकाश-मालाके साथ जगमगा रहे है।

बल और बुद्धिका वही सम्बन्ध है जो देह और आँखका। बुद्धि-कौशलके बिना बलका कुछ अर्थ नही और बलके अभावमे बुद्धि-कौशल पगु है।

राजपूतोमे बल था, ऐसा बल, विश्व-इतिहासके पृष्ठोमे जिसकी कोई उपमा नही, पर पराजयके अतिरिक्त उन्हे क्या मिला ?

वे जहाँ लडे सिहकी भाँति लडे। शत्रु और मित्र सभीने खुले दिल उनके शौर्यकी प्रशसा की, पर इससे क्या ?

कल्पनाके मोदक हमे कुछ कालके लिए आनन्दके मधुर आवेशमे भले ही भुला दे, पर हमारी क्षुधाकी शान्ति नही कर सकते।

शाहजहाँका उत्तराधिकारी दारा, ६० हजारसे भी अधिक वलराशिका स्वामी था और उसका छोटा भाई औरगजेव इससे आधीसे भी कम, पर वुद्धि-कौशलके अभावमे एकका अन्त इतना दयनीय है कि पत्थर भी पसीज उठे और दूसरा इसीके सहारे साम्राज्यका अधीश्वर वन वैठा।

वलके साथ वुद्धिका एकत्र सयोग सौभाग्यश्रीका पुनीत वरदान है। जिस मनुष्य, जाति या राष्ट्रको महामायाका यह वरदान प्राप्त है, सफलता उसके सामने हाथ वाँधे खडी रहनेमे अपने जीवनकी चरितार्थता मानती है और विजय उसकी आँखके एक सूक्ष्म सकेतपर नाचनेमे अपना गौरव अनुभव करती है।

यह सयोग सत्त्वाश्रित होनेपर सौन्दर्य एव प्रेमके सम्मिलन-सा मनोहर, प्रकृति एव पुरुषके सम्मिलन-सा पुनीत और काव्य एव सगीतके सम्मिलन-सा अजेय हो उठता है।

वलकी चरम सीमा कहाँ है ?

शत्रुदल-गजनमे, केशरीके साथ खेल खेलनेमे या फिर देश और धर्मके लिए हँसते-हँसते अपने प्राणोकी आहुति देनेमे ?

नही, वलकी चरम सीमा वीरकी उस अविचल-मुसकानमे है, जो चारो ओर पराजय और पराभवका वातावरण उपस्थित होनेपर भी उसके

अरुण-अधर-मण्डल पर अपनी पुण्य-पुनीत प्रकाशमालाके साथ थिरका करती है।

वर्वरताके राक्षसी ताण्डवके वीच चुनी जानेवाली दीवारमे आकण्ठ निमग्न गुरु गोविन्दसिहके आत्मज सरल शिशुओके अधर मण्डलपर विकसित होनेवाली अविचल स्मित रेखा, पर कौन सहृदय है, जो नेपोलियन और गैरीवाल्डी, राणाप्रताप और शिवाजी ही नही, विश्वकी समस्त वीरताका सार न्यौछावर करनेमे हिचकेगा ?

विश्वके इतिहास-उपवनमे वीरता-वल्लरीके उदाहरण-सुमनोकी कमी नही। एकसे एक सुरभित एव एकसे एक सुन्दर, पर उनमे सर्वोत्कृष्ट एव दिव्यके नामसे उद्घोपित सुमनोका विकास विजय-वैभवकी वरेण्य-वैजयन्तीकी ऊँची फहरानके पार्श्व देशमे नही हुआ, पराजयकी पुण्य-पराग-माला ही उनका प्रसूतिगृह है।

पश्चिम शरीर वलका उपासक है और भारत आत्मवलका। अपने-अपने क्षेत्र और समयमे दोनो ही वल खूब फले-फूले और विकासकी चरम सीमातक पहुँचे। प्राचीनतम अतीतके अनन्तर भी बुद्धके रूपमे भारतने एक वार फिर अपने पक्षकी उज्ज्वलता घोषित की, पर अभी विश्वके विशाल प्रागणमे उसके पक्षकी सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित होनी अवशिष्ट थी कि प्रकृतिने गान्धीकी महासृष्टि की, जो युद्धकी पाशविकताको अहिसाके साथ सफलतापूर्वक जोड एक सास्कृतिक अनुष्ठानका रूप दे सका और यो भारतीय सस्कृतिके इतिहासमे एक नया अध्याय जोडनेमे सफल हुआ।

पुण्य पर्वतकी उस पिकनिकमें

कामसे थक जाऊँ या मानवके अमानवीय व्यवहारसे ऊब उठूँ, तो ताजगीके लिए दौडकर प्रकृतिकी गोदमे जा पहुँचता हूँ। समय कम हो, तो खेतपर और ज्यादा हो, तो पर्वतकी गोदमे।

मुझे लगता है कि ये पर्वत ही हमारी सस्कृतिके प्रसूति-गृह है और यो मै उनके वातावरणमे पहुँच, एक आध्यात्मिक आँचलकी छायाका स्पर्श पा पुलकित हो उठता हूँ। फिर जहाँ पुलक है, वहाँ थकान कहाँ, अवसाद कहाँ, निराशा कहाँ ?

यह है एक हिल-स्टेशन—पर्वतीय नगर, जिसमे मै ठहरा हूँ। घूमता हूँ, देखता हूँ, सोचता हूँ, लिखता हूँ; बस यही मेरी पिकनिक है। कमरेकी पिछली खिडकीसे झाँका, तो दिखाई दिया—दूर, एक साफ-समतल मैदान, जिसके चारो तरफ देवदारुके वृक्ष ही वृक्ष। सोचा, वहाँ बैठकर कुछ लिखा जाय, तो वडा मजा रहे और बस आई फुरैरी, तो चल पडा।

घरके पासकी छोटी सडक और उससे उतरती पगडण्डी। चला जा रहा हूँ रपटता-झपटता उदकता-कुदकता और यह लो मै हूँ उस मैदानमे! शान्त एकान्त वातावरण सचमुच कुटिया बनाने लायक स्थान है।

कुटिया आज निरादृत है और कोठी समादृत, पर कुटिया है सस्कृतिका केन्द्र और कोठी सभ्यताका। कुटियामे हम उपार्जन करते है और कोठीमे व्यय; पर कुटिया देशकी दुर्गतिके दिनोमे अभावका प्रतीक बन गई, त्यागका मन्दिर न रही और यो हम सास्कृतिक दिवालिया हो गये।

कुटिया और कोठीके विचार-चक्रपर जाने कबतक घूमता रहा, पर सूरज ढला, तो मै चला। मस्तिष्कमे विचार अब भी है, पर बढा जा रहा हूँ। बढा क्या जा रहा हूँ, चढा आ रहा हूँ घरकी ओर, पर यह क्या कि पसीना

आ रहा है और यात्रा बोझिल है। हरेक कदम पहलेसे भारी हुआ जा रहा है, बात क्या है यह ?

ओह, यह स्थान खड्डमे है और अब मुझे चढाई चढनी पड रही है। तो चढ रहा हूँ, थक रहा हूँ और सोच रहा हूँ—गिरना आसान है, उठना कठिन है। गिरनेमे सरलता है, देखती आँखोमे सरसता भी है, पर उठने-मे श्रम है, साधना है।

तभी एक प्रश्न पटबीजना-सा भीतर चमक उठा—क्या ऊपर उठनेके श्रममे, साधनामे, मिठास, रस और आनन्द नही है ? वह रूखी-सूखी ही चीज है ? शायद हो, पर अपने जीवनकी चौथाई शताब्दीसे भी अधिक लम्बी साधनामे मुझे तो कही रूखापन नही मिला, फिर भला मै कैसे कहूँ कि साधना एक रूखी चीज है ? सिद्धि समाप्ति है, लीनता है, पर साधना तो मधुर ही मधुर है !

ठीक है, पर मुझे ऊपर जानेमे यह आनन्द क्यो नही मिल रहा है ? प्रश्न तो अपना ठीक है, ठीक जगह है, पर ना ठीक लगता है, ठीक कहाँ है ? साधनाकी आत्मा है स्वेच्छा और मेरे इस ऊपर जानेमे स्वेच्छा नही, मजबूरी है—अनजाने यहाँ आ गया, अनचाहे ऊपर जा रहा हूँ, इसमे साधना कहाँ, यह तो बोझ है !

भक्त भगवान्की पूजामे लीन हो जाता है, अपूर्व आनन्द उसे मिलता है, पर एक पुजारीजी है। दोपहरको वे ताश जमाते है और शामको जब भगवान्की पूजाका तकाज़ा उनपर आता है, तो कभी-कभी कहा करते है—"उठो भाई, पहले पूजाका पाप काट आएँ।"

मै भी ऊपर चढ रहा हूँ, पर चढाईका पाप ही तो काट रहा हूँ ! फिर आनन्द कैसे मिले ?

× × ×

पगडण्डीसे चढा चला आ रहा था कि ध्यान आ गया इस पगडण्डीमे कितने मोड हैं ? कितने क्या, मोड ही मोड है; जैसे यह राह न होकर कोई चक्कर हो !

तभी जैसे भीतर किसीने कहा—जीवनमे भी तो मोड है इसी तरह; और अब जैसे जीवन और पथ दोनो मेरे सामने आ गये। मैं सोचता रहा—पथमे भी मोड है, जीवनमे भी मोड है।

—"पर क्यो है ये मोड ?" जिज्ञासाने पूछा और विवेकने उत्तर दिया—"पथमे मोड न हो, तो पथिक अपनी मजिलतक कैसे पहुँचे और जीवनमे मोड न हो, तो मानव अपना लक्ष्य कैसे पाये, पगले !"

तब ठीक है—मैंने सोचा—मोड पथकी भी शक्ति है और जीवनकी भी, पर शक्ति जहाँ शक्ति है, वही एक खतरा भी है कि सदुपयोग हो, तो शक्ति निर्माणका साधन है और दुरुपयोग हो, तो विनाशका मोर्चा।

जीवन या पथके मोडपर आते ही जहाँ आगे बढनेकी प्रवृत्ति पनपती है, वहाँ भटक जानेकी सम्भावना भी तो ! यहाँ दिशाबोध आवश्यक है और यह दिशाबोध ही शक्तिका सदुपयोग है।

× × ×

चढते ही चढते सुना—सामनेकी पहाडियोमे एक साधु रहता है और सर्दियोमे, जब चारो ओर सूनापन छा जाता है, तो कभी-कभी वह दिखाई देता है।

जीवनकी यह कैसी स्थिति है कि न पास कोई अपना आदमी, न सुख-सुविधाका कोई साधन, बस पहाडकी सूनी कदरा और उसमे निवास करता एक मनुष्य, जिसके पास अपनी एक लगोटी भी नही—एकदम अकिंचन !

अकिंचन, तो क्या दयनीय ? मेरी आँखोमे घूम रहे है, वे दीन-भिखारी, जिनके पास कुछ भी नही होता—सचमुच दयनीय !

तो क्या साधु और भिखारी, दोनो एक ही चीज है? लगता तो यही है कि एक ही चीज है—उसके पास भी कुछ नही और इसके पास भी कुछ नही, पर देख रहा हूँ अन्तर्वासी इसे ले नही पा रहा और उसके विद्रोहकी वाणी सुन रहा हूँ—ना, ये दोनो एक नही है, एकके पास कुछ नही है और वह टुकडोके लिए दर-दर भटकता है, पर एकके पास कुछ नही है, तब भी वह स्वर्गका अधीश्वर है।

डुबकी खाते-खाते मै उभर आया हूँ—हमारी महान् सस्कृतिका यह कैसा चमत्कार है कि मनुष्यकी दीनताकी चरम सीमा है अकिचनता और उसके उत्कर्षकी चरम सीमा है अकिचनता। अकिचनताकी ही छायामे जी रहे है वे लाखो, जो मानव होकर भी नालीके कीडोकी स्थितिमे है और अकिचनताकी छायामे ही पनपे है—महावीर, बुद्ध और गान्धी!

सोच रहा हूँ—यह दीनता दूर होनी है और यह उत्कर्ष पनपना है और चढा चला आ रहा हूँ।

× × ×

पर्वतमालासे मैने कहा—"तुम कितनी उदार हो कि मेरी जातिके हजारो लोगोको अपनी गोदमे लिये रहती हो? क्या इसमे कष्ट नही होता?"

पर्वतमालाने कहा—"कष्टकी इसमे क्या बात! तुम देखते नही, आकाशदेव मुझे कितने प्यारसे अपनी गोदमे लिये हुए है?"

मैने उन्नत आकाशकी ओर देखा। वह विश्वब्रह्माण्डको अपनी गोदमे लिये स्पर्श-सुखकी कोमल अनुभूतिमे लीन था।

× × ×

सन्ध्याका समय, सामनेके ऊँचे पर्वत-शिखरपर काले बादलका एक टुकडा और उसके किनारे डूबते सूर्यकी किरणोके आलोकमे स्वर्णाभा, प्रकृतिकी कारीगरीका यह प्रदर्शन, यह अद्भुत प्रदर्शन!

पर्वत-सुन्दरी गोटेका चूनर ओढे किसीकी प्रतीक्षामें है या तालके समपर छमसे ठुमककर नृत्यकी मुद्रामे स्थिर हो गई है ?

बादलका टुकडा नीचा हो गया है और वह स्वर्णरेखा ठीक शिखरपर आ लगी है। संध्याके झुट-पुटेमे हरित-श्यामल शिखर और शुद्ध स्वर्णकी यह मोटी रेखा। वातावरण शान्त, आँखोमे स्वर्ण-प्रकाश और मन लीन।

क्या पुराण-वर्णित शिव ताण्डवकी यही प्रस्तावना है ?

× × ×

और यह लौट रहा हूँ मै अपने घर—नगर। बसमे एक यात्रीको चक्कर आ गया, तो किसी अनुभवीने कहा—"आप दूर देखिए, पास देखनेसे ज्यादा चक्कर आते है।"

एक सरदारजीको जोरोसे उबकाइयाँ आई, तो दूसरे अनुभवीने कहा—"आप ऊपर देखिए, नीचे देखनेसे ज्यादा चक्कर आते है।"

मैने दोनो अनुभवोको मिलाकर सोचा—ठीक है, जीवनकी यात्रामे जो लोग नीचेकी ओर देखते है—विचारोके नीचे धरातलपर आँख रखते है और जो लोग पास ही देखते है, सकीर्ण-दृष्टिका शिकार हो जाते है, उन्हे ऐसे चक्कर आते ह कि वे यात्राका कुछ भी आनन्द नही ले पाते।

और अब मै फिर अपने नगरमे था—इस युगमे यात्रा कितनी सुगम हो गई है ?